अग्निशिखा एवम् पुरोधा
अखिल भारतीय पत्रिका
सितम्बर २०२४

जीवन –
एक यात्रा और एक आरोहण

अग्निशिखा एवम् पुरोधा सितम्बर २०२४ वर्ष २, अंक २, पूर्णांक १४

विषय-सूची

जीवन—एक यात्रा और एक आरोहण

(पार्थिव जीवन का केन्द्रीय उद्देश्य)

(श्रीअरविन्द तथा श्रीमाँ के वचन)

प्रार्थना		३
विश्व में जो हो रहा है		५
पार्थिव जीवन का केन्द्रीय उद्देश्य		८
यहाँ 'उन्हें' पाना भगवान् की योजना है		१४
अतिसूक्ष्म अनन्त (सॉनेट)		१७
जीवन–एक यात्रा और एक आरोहण		१८
जगत्-पहेली की चाबी		२०
व्यक्तिगत मुक्ति सृष्टि का उद्देश्य नहीं है		२३
दिव्य जीवन में विकास		२६
स्वर्णिम प्रकाश (सॉनेट)		३१
पुरोधा : दैनन्दिनी		३२
'तन मन सकल खाली कर्‌यो'	स्व.लीलावती	३५
मेरे प्रभो! दे दो मुझे... (कविता)	आशा भुतडा	३७
'दिव्य शरीर में दिव्य जीवन' : आपके हवाले करता हूँ	नवजातजी	३८
शाश्वत ज्योति (७)	चित्रा सेन (अनु.वीणा)	४०
"आप इतनी ख़ुश क्यों हैं?"	ज़ाँ हूस्टन	४२
लगता है... (कविता)	श्री विश्वनाथ	४३
जंगल	स्व.अनुबेन	४४
"सारा हिसाब चुकता"	वन्दना	४६
ए.जी.एम की सूचना		५०

प्रार्थना

२५ मार्च १९१४

हमेशा की तरह मौन और अदृष्ट किन्तु सर्वशक्तिमान्, तेरी क्रिया ने अपने-आपको अनुभूत करवाया है और इन आत्माओं के अन्दर, जो इतनी बन्द मालूम होती थीं, तेरी दिव्य ज्योति का बोध जाग उठा है। मैं भली-भाँति जानती थी कि तेरी उपस्थिति के लिए आह्वान करना कभी व्यर्थ नहीं हो सकता और यदि हम अपने हृदय की सच्चाई के साथ तेरे साथ सायुज्य स्थापित करें, फिर चाहे वह किसी भी अंग के साथ क्यों न हो, शरीर के साथ हो या मानव-समुदाय के साथ, यह अंग अपने अज्ञान के बावजूद, अपनी अचेतना को पूरी तरह रूपान्तरित पाता है। लेकिन जब किसी एक या कई तत्त्वों में सचेतन रूपान्तर होता है, जब वह ज्वाला, जो राख के नीचे सुलगती रहती है, समस्त सत्ता को आलोकित करती हुई अचानक प्रज्वलित हो उठती है, तब हम आनन्द के साथ तेरे राजकीय कार्य को नमन करते हैं और एक बार फिर तेरी अपराजेय शक्ति के साक्षी होते हैं और आशा कर सकते हैं कि मानवजाति में अन्य सुखों के साथ एक और सच्चे सुख की सम्भावना जोड़ दी गयी है।

हे प्रभो, मेरे अन्दर से एक तीव्र कृतज्ञता-प्रकाशन तेरी ओर ऊपर उठ रहा है जो इस दुःख-भरी मानवजाति की कृतज्ञता प्रकट करता है जिसे तू प्रकाशित करता और रूपान्तरित करता और महान् बनाता है और जिसे तू 'ज्ञान' की 'शान्ति' प्रदान करता है।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १, पृ. ६८

जीवित रहना और प्रेम करना चिरन्तन पदार्थों के चिह्न हैं,
प्रेम चिरन्तन स्तरों से उतरा एक दिव्य अनुग्रह है।

'सावित्री', पृ. ३९७ **श्रीअरविन्द**

विश्व में जो हो रहा है

(हे प्रभो)

कौन-से शब्द 'तेरे विधान' की भव्यता और तेरे प्रताप की 'महिमा' का बखान कर सकते हैं? कौन-से शब्द तेरी 'चेतना' की पूर्णता और तेरे 'प्रेम' के अनन्त आनन्द का वर्णन करेंगे?

कौन-से शब्द तेरी वर्णनातीत 'शान्ति' के गीत गायेंगे और तेरी 'नीरवता' की गरिमा और तेरे सर्वशक्तिमान् 'सत्य' की महिमा का समारोह करेंगे?

समस्त अभिव्यक्त विश्व तेरे वैभव का बखान करने और तेरे अद्‌भुत चमत्कारों की बात कहने के लिए पर्याप्त नहीं है, और काल की अनन्तता में वह अधिकाधिक और अधिक-से-अधिक अच्छे रूप में, सनातन रूप से यही करने की कोशिश कर रहा है।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १, पृ १७३-७४

क्या सृष्टि का कोई निश्चित लक्ष्य है? क्या इसका कोई अन्तिम ध्येय है जिसकी ओर यह अग्रसर हो रही है?

नहीं, यह विश्व एक गति है जो शाश्वत रूप से अपने-आपको खोलती जा रही है। ऐसा कुछ भी नहीं है जिसे इति कहा जा सके, जो अन्तिम लक्ष्य हो। परन्तु कार्य-सञ्चालन के लिए हमें इस गति के, जो स्वयं अनन्त है, खण्ड करने पड़ते हैं और यह कहना पड़ता है कि हमारा अमुक उद्देश्य है, क्योंकि कार्य करने के लिए हमें किसी ऐसी चीज़ की आवश्यकता पड़ती है जिस पर हम अपना लक्ष्य बाँध सकें। एक चित्र आँकने में तुम्हें उसकी रचना और रंगों की निश्चित आयोजना करनी पड़ती है, एक सीमा बाँधनी होती है ताकि जो कुछ चित्रित करना है वह सब एक नियत ढाँचे में आ जाये, किन्तु वह सीमा आभासी होती है, वह ढाँचा केवल औपचारिक होता है। असल में चित्र का एक सतत प्रवाह होता है जो किसी भी विशिष्ट ढाँचे का अतिक्रमण कर लेता है और उसकी प्रत्येक धारा उसी प्रकार एक-एक ढाँचे में उतारी जा सकती है और इस प्रकार अनगिनत ढाँचों का कभी न समाप्त होने वाला क्रम बन सकता है। हम कहते हैं कि हमारा लक्ष्य

अमुक है, किन्तु हम जानते हैं कि यह इससे परे के लक्ष्य का प्रारम्भ-मात्र है और फिर वह अगले लक्ष्य की ओर ले जाता है और यह शृंखला सदा बढ़ती रहती है, कभी बन्द नहीं होती।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ३, पृ ३७

संसार हमेशा बदलता रहता है, हमेशा; एक निमिष-मात्र के लिए भी वह अपने जैसा नहीं रहता और सामान्य सामञ्जस्य अपने-आपको अधिकाधिक पूर्ण रूप में प्रकट करता रहता है; इसलिए कोई भी चीज़ जैसी-की-वैसी नहीं बनी रह सकती और विपरीत आभासों के होते हुए भी **समग्र** निरन्तर, प्रगति करता रहता है; सामञ्जस्य अधिकाधिक सामञ्जस्यपूर्ण होता जा रहा है, और 'अभिव्यक्ति' में सत्य अधिकाधिक सच होता जा रहा है। लेकिन उसे देखने के लिए तुम्हें समग्र को देखना चाहिये, जब कि मनुष्य देखता है केवल... मानव क्षेत्र भी नहीं, बल्कि केवल अपना निजी क्षेत्र, बिलकुल छोटा, बिलकुल छोटा, बहुत ही छोटा भाग देखता है—वह नहीं समझ सकता।

यह एक दोहरी चीज़ है जो अपने-आपको पारस्परिक क्रिया के द्वारा पूर्ण करती जा रही है *(वही, परस्पर मिले होने की मुद्रा)* : जैसे-जैसे 'अभिव्यक्ति' अपने बारे में अधिक सचेतन होती जाती है, उसकी अभिव्यञ्जना अपने-आपको अधिक पूर्ण करती जाती है, अधिक सत्य भी होती जाती है। ये दोनों गतियाँ साथ-साथ चलती हैं।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ११, पृ ८१

... जो कुछ होता है वह सृष्टि के लक्ष्य के पूर्ण उन्मीलन के लिए आवश्यक है। हम कह सकते हैं : सृष्टि का लक्ष्य यह है कि प्राणी 'स्रष्टा' की भाँति सचेतन हो जाये। हाँ! यह एक वाक्य है, लेकिन है उसी दिशा में। इस सृष्टि का लक्ष्य है 'अनन्त' की, 'शाश्वत' की यह 'चेतना' जो 'सर्वशक्तिमान्' है—'अनन्त', 'शाश्वत', 'सर्वशक्तिमान्' (जिसे हमारे धर्म 'ईश्वर' कहते हैं : हमारे लिए, जीवन के सम्बन्ध में यही भगवान् है)—'अनन्त', 'शाश्वत', 'सर्वशक्तिमान्'... कालातीत; हर पृथक् कण के पास यह 'चेतना' है। हर पृथक् कण इसी 'चेतना' को समाये हुए है।

विभाजन ने ही सृष्टि की रचना की है और विभाजन में ही 'अनन्त' अपने-आपको अभिव्यक्त करता है।

हमारी भाषा... (या हमारी चेतना) अपर्याप्त है।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ११, पृ ३०८-०९

सारी सृष्टि को भगवान् के सिवा और किसी की चाह न होनी चाहिये, भगवान् को अभिव्यक्त करने के सिवा कोई चाह न होनी चाहिये; वह जो कुछ भी करता है, यहाँ तक कि उसकी तथाकथित भूलें तक, सारी सृष्टि के लिए भगवान् को अभिव्यक्त करना अनिवार्य बनाने के साधन हैं—लेकिन उस "भगवान्" को नहीं जिसकी मनुष्य कल्पना करता है, जिसे "ऐसा होना चाहिये और वैसा नहीं", जिसके लिए बहुत-से प्रतिबन्ध हैं: वह महती शक्ति और ज्योति की *समग्रता* है। यह सचमुच जगत् में 'शक्ति' है, एक नयी और महती 'शक्ति' जो जगत् में आयी है और जिसे अपने-आपको अभिव्यक्त करना चाहिये और (अगर यह कहा जा सके तो) इस दिव्य 'सर्व-शक्ति' को "अभिव्यक्ति-योग्य" बनाना चाहिये।

मैं इस निष्कर्ष पर पहुँची हूँ। मैंने देखा है, मैंने अवलोकन किया है और मैंने यह जाना है कि जिसे हम, किसी अधिक अच्छे शब्द के अभाव में, "अतिमन" कहते हैं, वह 'अतिमन' सृष्टि को उच्चतर 'शक्ति' के प्रति अधिक संवेदनशील बना देता है; हम उसे "भगवान्" कहते हैं क्योंकि हम... हम जो हैं उसकी तुलना में वह दिव्य है, लेकिन... वह कुछ ऐसी चीज़ है *(अवतरण और दबाव की मुद्रा)*, जिसे 'जड़-तत्त्व' को 'शक्ति' के प्रति अधिक संवेदनशील और अधिक... "ग्रहणशील" बना देना चाहिये।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ११, पृ ३३५

सत्ता में सब कुछ मौन है, लेकिन नीरवता के वक्ष में वह दीपक जलता है जिसे कभी बुझाया नहीं जा सकता—वह उस तीव्र अभीप्सा की अग्नि है जो भगवान् को जानना और उन्हें सम्पूर्ण रूप से जीना चाहती है।

*

अभीप्सा की लौ इतनी सीधी और इतनी तीव्र होनी चाहिये कि कोई बाधा उसे क्षीण न कर सके। **'श्रीमातृवाणी'**, खण्ड १४, पृ ८१

पार्थिव जीवन का केन्द्रीय उद्देश्य

बुधवार की कक्षा में श्रीमाँ ने 'दिव्य जीवन' के अन्तिम छह अध्यायों का अध्ययन आरम्भ किया :

"एक आध्यात्मिक क्रम-विकास ही, अर्थात्, 'जड़-तत्त्व' में चेतना का ऐसा क्रम-विकास कि वह अपने रूपों को इस प्रकार निरन्तर विकसित करती चले कि अन्त में वह रूप अन्दर रहने वाली 'आत्मा' को प्रकट कर सके, यही तब पार्थिव जीवन का मुख्य स्वर, उसका केन्द्रीय अर्थपूर्ण हेतु है। यह अर्थ आरम्भ में 'आत्मा' के, दिव्य सद्वस्तु के, सघन भौतिक 'निश्चेतना' में निवर्तित होने के कारण छिपा रहता है; 'निश्चेतना' का आवरण, 'जड़-तत्त्व' की असंवेदनशीलता का आवरण, अपने अन्दर कार्य करने वाली वैश्व 'चित्-शक्ति' को छिपाये रहता है, फलतः, 'ऊर्जा', जो सर्जक 'शक्ति' का भौतिक 'विश्व' में धारण किया गया पहला रूप है, अपने-आपमें निश्चेतन प्रतीत होती है, पर तब भी एक विशाल गुह्य 'प्रज्ञा' के कार्य करती है।

(श्रीअरविन्द, 'दिव्य जीवन')

मधुर माँ, मेरी समझ में नहीं आया कि यह 'चित्-शक्ति' क्या थी, अतः मैं कुछ भी न समझ सका!

समझने-लायक़ पहली चीज़ ठीक यह पहला वाक्य है जो एक तथ्य को, विश्व-जीवन के मूलतत्त्व और उसके अस्तित्व के कारण को बतलाता है। क्या तुम नहीं देख रहे कि हम इस खण्ड के अन्त से शुरू कर रहे हैं, ये अन्तिम छः अध्याय हैं। पुस्तक के सारे प्रारम्भिक भाग में श्रीअरविन्द विश्व और जीवन के कैसे और क्यों समझाने वाले सभी सिद्धान्तों को एक के बाद एक लेते हैं। वे उन्हें उनकी अन्तिम सीमा तक ले जाते हैं ताकि यह बता सकें कि उनका अर्थ क्या था, अन्त में उन्होंने दिखाया है कि वे कहाँ तक अधूरे और अपूर्ण थे, और उन्होंने सच्चा समाधान दिया है। वह सब तो मानों हमारे पढ़ने के पहले ही समाप्त हो चुका। उस सारे में से

अचेतना में से उभरती हुई 'दिव्य चेतना'

(श्रीमाँ द्वारा की गयी पेंटिंग, उन्हीं के द्वारा दिया गया शीर्षक)

गुज़रने के लिए तो हमें लगभग दस वर्ष लग जाते! और उससे कोई लाभ उठा सकते इतना समझने के लिए तुम्हें बहुत प्रकार के ज्ञान, और बहुत अधिक बौद्धिक विकास की ज़रूरत होती। लेकिन हम वहाँ से शुरू कर रहे हैं जहाँ उन्होंने पूरे बौद्धिक तरीक़े से बताया है कि जीवन के अस्तित्व का कारण क्या था। वे इसे इस तरह सूत्रबद्ध करते हैं : "पार्थिव जीवन का केन्द्रीय सार्थक हेतु"। क्योंकि उन्हें सारे विश्व से मतलब नहीं है। उन्होंने हमारे पार्थिव जीवन को ही लिया है, अर्थात् यहाँ, धरती पर के जीवन को सारे विश्व के अस्तित्व के कारण के प्रतीकात्मक संकेन्द्रित प्रतिनिधि के रूप में लिया है। वास्तव में कई परम्पराओं के अनुसार धरती, गहरे आध्यात्मिक दृष्टिकोण से, वैश्व जीवन के प्रतीकात्मक केन्द्र के रूप में बनी है ताकि रूपान्तर का काम ज़्यादा आसानी के साथ, एक सीमित, संकेन्द्रित "देश" में किया जा सके—यदि ऐसा कहें तो—जहाँ समस्या के सभी तत्त्व इकट्ठे हों ताकि उस जमाव में क्रिया ज़्यादा समग्र और प्रभावशाली हो सके। इसलिए यहाँ श्रीअरविन्द केवल पार्थिव जीवन की बात करते हैं। लेकिन हम समझ सकते हैं कि यह एक प्रतीकात्मक जीवन है, यानी यह वैश्व क्रिया का *प्रतिनिधि* है। यह प्रतीकात्मक, संकेन्द्रित प्रतिनिधि-रूप है। और वे कहते हैं कि "केन्द्रीय कारण" यानी, पार्थिव जीवन के अस्तित्व का कारण 'जड़-तत्त्व' के केन्द्र में छिपी हुई 'आत्मा' को, जो अन्दर से बाहर की ओर एक क्रमशः बढ़ते हुए विकास की ओर धकेलती है, जगाना, अन्तिम रूप से प्रकट करना और समग्र रूप में अभिव्यक्त करना है। यही अन्दर से काम करती हुई 'आत्मा' को मुक्त करेगी।

तो, बाहरी रूपों में जैसा तुम उन्हें देखते हो, पहले-पहल खनिज जगत् मिलता है जिसमें पत्थर, मिट्टी, धातुएँ आती हैं जो हमारी बाहरी चेतना को बिलकुल अचेतन दीखती हैं। फिर भी इस अचेतनता के पीछे 'आत्मा' का प्राण है, 'आत्मा' की चेतना है जो पूरी तरह छिपी हुई है, मानों सोयी हुई हो—यद्यपि यह केवल बाहर से ऐसा लगता है—और यह देखने में बिलकुल बेजान लगने वाले जड़-तत्त्व को धीरे-धीरे, अन्दर से रूपान्तरित करने के लिए काम करती है, ताकि उसका संघटन अपने-आपको चेतना की अभिव्यक्ति के लिए अधिकाधिक अनुकूल बना सके। और वे कहते हैं कि पहले-पहल जड़-पदार्थ का यह परदा इस कदर पड़ा होता है कि ऊपरी

दृष्टि से तो यही लगता है कि इसमें न तो प्राण है, न चेतना। जब तुम एक पत्थर को उठा कर सामान्य दृष्टि और चेतना से देखो तो कहोगे: "इसमें जान नहीं है, इसमें चेतना नहीं है।" लेकिन जो बाहरी आभासों के पीछे देखना जानता है उसके लिए इस पदार्थ के केन्द्र में—पदार्थ के *प्रत्येक अणु* के केन्द्र में 'परम दिव्य सद्वस्तु' छिपी हुई है जो अन्दर से, धीरे-धीरे, युगों से इस जड़-पदार्थ को किसी ऐसी चीज़ में बदलने में लगी है जो अन्दर की 'आत्मा' को अनावरित करने के लिए काफ़ी अभिव्यञ्जक होगी। तब 'जीवन' के इतिहास का अनुक्रम आगे बढ़ता है: कैसे पत्थर से, अचानक प्रारम्भिक प्राण फूट पड़ा और क्रमिक प्रजातियों के द्वारा एक प्रकार का संघटन, यानी, एक जैव तत्त्व जो प्राण को प्रकट करने में सक्षम है। लेकिन खनिज और वनस्पति-जगतों के बीच संक्रमणशील तत्त्व है। पता नहीं चलता कि वे खनिज के अंश हैं या उनसे वनस्पति का प्रारम्भ हो चुका है—विस्तार से उनका अध्ययन करने पर अजीब-सी जातियाँ दिखायी देती हैं जो न यहाँ की हैं, न वहाँ की, जो पूरी तरह न यह हैं न वह। तब वनस्पति-जगत् का विकास शुरू होता है जहाँ स्वभावतः प्राण प्रकट होता है क्योंकि यहाँ उद्भव है, रूपान्तरण है—पौधे में अंकुर फूटते हैं, वह बढ़ता और विकसित होता है—और जीवन के प्रथम तथ्य के साथ-ही-साथ सड़ने और विघटन का तथ्य भी आता है जो पत्थर की अपेक्षा यहाँ बहुत तेज़ी से होता है। अगर पत्थर को अन्य शक्तियों के आघातों से बचाया जाये तो स्पष्ट ही वह अनिश्चित काल तक रह सकता है। जब कि वनस्पति उद्भव, खिलने, मुरझाने और सड़ने के चक्र का अनुसरण शुरू कर देती है—लेकिन यह सब बहुत ही सीमित चेतना के साथ। जिन्होंने वनस्पति-जगत् का व्यापक अध्ययन किया है वे भली-भाँति जानते हैं कि उनमें चेतना होती है। उदाहरण के लिए, पौधों को जीने के लिए सूर्य की ज़रूरत होती है—सूर्य उन्हें वह सक्रिय ऊर्जा देता है जिससे उनकी वृद्धि होती है—तो, अगर तुम किसी पौधे को ऐसी जगह रख दो जहाँ धूप नहीं आती तो तुम उसे हमेशा धूप तक पहुँचने के लिए चढ़ते, चढ़ते, चढ़ते हुए, कोशिश करते हुए, *प्रयास* करते हुए देखोगे। उदाहरण के लिए, घने जंगल में जहाँ मनुष्य हस्तक्षेप नहीं करता, सभी पौधों में इस प्रकार का संघर्ष होता है जो किसी-न-किसी तरह से धूप को पकड़ने के लिए सीधे

चढ़ने का *प्रयास* करते हैं। यह बड़ा मनोरञ्जक है। लेकिन अगर तुम कोई गमला दीवारों से घिरे छोटे-से आँगन में रख दो, जहाँ धूप नहीं आती, तो जो पौधा प्रायः इतना ऊँचा है *(संकेत)* इतना ऊँचा हो जाता है : वह धूप पाने के लिए *प्रयास* करते हुए अपने-आपको लम्बा खींचता है। अतः, एक चेतना है, जीने का संकल्प है जो पहले से ही अभिव्यक्त हो रहा है। और फिर थोड़ा-थोड़ा करके प्रजातियों में अधिकाधिक विकास होता जाता है। और तुम फिर से एक ऐसी बीच की संक्रमणशील स्थिति देखते हो जो, अभी पशु तो नहीं है, पर पूरी तरह वनस्पति भी नहीं रही। ऐसी बहुत-सी प्रजातियाँ हैं जो बहुत मनोरञ्जक हैं। ऐसे पौधे हैं जो मांसाहारी हैं, खुले मुँह-जैसे पौधे होते हैं : तुम उनमें एक मक्खी डालो और, गड़प! वे निगल जाते हैं। ये अब ठीक पौधे नहीं हैं, पर अभी तक पशु भी नहीं बने। इस तरह के बहुत-से पौधे हैं।

तब तुम पशु तक आते हो। शुरू के पशुओं और पौधों में फ़र्क करना कठिन है। उनमें चेतना नहीं के बराबर होती है। फिर तुम जानवरों की सभी जातियों को देखो। तुम उन्हें जानते हो, जानते हो न? उच्चतर पशु-जातियाँ, वास्तव में *बहुत* सचेतन होती हैं। उनकी अपनी बिलकुल स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति होती है। वे बहुत सचेतन और अद्‌भुत रूप से बुद्धिमान् होते हैं, जैसे, हाथी। तुम हाथी और उसकी अद्‌भुत बुद्धि की बहुत सारी कहानियाँ जानते हो। फलस्वरूप, यहाँ मन काफ़ी स्पष्ट रूप से दिखायी देता है। और इस क्रमिक विकास में से होते हुए हम अचानक उस प्रजाति पर जा पहुँचते हैं जो शायद ग़ायब हो गयी है—जिसके कुछ अवशेष मिले हैं—यह बन्दर के जैसी या उसी कुल की मध्यवर्ती प्रजाति रही होगी। भले वह ठीक बन्दर न हो जिसे हम जानते हैं, पर उसके जैसी प्रजाति—एक ऐसा पशु जो दो पैरों पर चलता था। और वहाँ से हम आदमी तक आ पहुँचते हैं। मनुष्य के विकास का एक पूरा प्रारम्भ है। यह तो नहीं कहा जा सकता, कह सकते हैं क्या, कि उसमें बहुत बुद्धिमत्ता दिखायी देती है, लेकिन उसमें मन की क्रिया शुरू हो चुकती है, स्वाधीनता का आरम्भ, परिस्थितियों और 'प्रकृति' की शक्तियों के प्रति स्वतन्त्र प्रतिक्रिया का आरम्भ। इस तरह मनुष्य में पूरा सप्तक है जिसके शिखर पर है वह व्यक्ति जो आध्यात्मिक जीवन के योग्य हो।

इस पृष्ठ पर श्रीअरविन्द हमसे यही कहते हैं।

... अपनी उच्चतम अवस्था में मनुष्य 'प्रकृति' से बिलकुल स्वतन्त्र होने लगता है—"बिलकुल" तो ज़रा अतिशयोक्ति है : वह बिलकुल स्वतन्त्र *हो ज़रूर* सकता है। जिस व्यक्ति ने अपने अन्दर आध्यात्मिक चेतना उपलब्ध कर ली, जिसका भागवत 'मूल स्रोत' के साथ सीधा सम्बन्ध है वह प्रकृति से, प्रकृति की शक्तियों से शब्दशः स्वतन्त्र है।

(वर्षा शुरू हो जाती है) यह लो, यह हमारे मनों को ठण्डा करने के लिए है! *(हँसी)*

और इसी को वे "अपने-आपको पार कर जाना" कहते हैं। यानी, वह 'सत्ता', आन्तरिक भागवत 'चेतना', वह परम आध्यात्मिक 'सद्वस्तु' अपने विकास के प्रयास में... *(वर्षा ज़ोर पकड़ लेती है)*... ओह, ओह! हमें चुप रहना पड़ेगा।... अपने-आपको अभिव्यक्त करने के सचेतन माध्यम को विकसित करने की खोज में यह सत्ता इस योग्य हो गयी है कि प्रकृति की सभी प्रक्रियाओं में से गुज़रे बिना 'उससे' सीधा सम्पर्क स्थापित कर सके।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ९, पृ २३४-३८

श्रीअरविन्द धरती पर मनुष्य को यही सत्य सिखाने के लिए आये थे। उन्होंने कहा कि मनुष्य केवल एक संक्रमणशील सत्ता है जो मानसिक चेतना में निवास करता है, लेकिन उसमें एक नयी चेतना, 'सत्य-चेतना' प्राप्त करने की सम्भावना है। वह पूरी तरह सामञ्जस्यपूर्ण, शिव और सुन्दर, सुखी और पूर्णतः सचेतन जीवन जीने के योग्य होगा। अपने सारे पार्थिव जीवन में श्रीअरविन्द ने अपना पूरा समय अपने अन्दर उस चेतना को स्थापित करने में लगाया जिसे उन्होंने अतिमानस का नाम दिया है, और जो लोग उनके इर्द-गिर्द इकट्ठे थे उन्हें सहायता दी कि वे भी इसे पा सकें।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १२, पृ १२७

यहाँ 'उन्हें' पाना भगवान् की योजना है

जब कोई अपनी आत्मा को खोजने, उसके साथ युक्त हो जाने और उसे अपने जीवन को शासित करने की अनुमति देने का आवश्यक आन्तरिक प्रयास करता है तो इस खोज का एक तरह का अनोखा सम्मोहन होता है जिसके कारण सबसे पहली वृत्ति यह होती है कि वह अपने-आपसे कहे: "जो मैं चाहता हूँ वह अब मेरे पास है, मुझे अनन्त आनन्द मिल गया है!" और बस वह किसी अन्य चीज़ की ओर ध्यान नहीं देता।

वस्तुतः, ऐसा लगभग उन सब लोगों के साथ हुआ है जिन्होंने यह खोज की है, उनमें से कुछ ऐसे भी हैं जिन्होंने इस अनुभूति को सिद्धि का सिद्धान्त बना डाला और कहा: "जब तुम इतना कर चुके तो अब और कुछ करना बाक़ी नहीं रहा; तुम लक्ष्य तक और पथ के अन्त तक पहुँच गये हो।"

निश्चय ही, और आगे जाने के लिए बड़े साहस की ज़रूरत है, यह आत्मा जिसे व्यक्ति खोजता है, निर्भीक शूरात्मा होनी चाहिये जो दूसरों का दुःख देख कर अपने को इस विचार से तसल्ली देती हुई अपने आन्तरिक हर्ष से ज़रा भी सन्तुष्ट नहीं होती कि देर-सबेर सब उसी अवस्था तक पहुँचेंगे, और जो प्रयत्न मैंने किया है उसे दूसरे भी करें तो उनके लिए अच्छा है या, ज़्यादा-से-ज़्यादा, इस विचार से कि आन्तरिक प्रज्ञा की इस अवस्था में रहते हुए "महान् सद्भावना" और "गहरी अनुकम्पा" द्वारा वह लोगों को वहाँ तक पहुँचने में मदद कर सकती है, और जब सब उसे प्राप्त कर लेंगे तो वह दुनिया का अन्त होगा और यह उन लोगों के लिए अच्छा होगा जो दुःख भोगना नहीं चाहते!

लेकिन... एक "लेकिन" है। क्या तुम्हें विश्वास है कि परम प्रभु का स्वयं को अभिव्यक्त करते समय यही उद्देश्य और यही आशय था? *(मौन)*

अगर यही परिणाम हो तो सारी सृष्टि, यह सारी वैश्व अभिव्यक्ति अधिक-से-अधिक एक भद्दा मज़ाक मालूम होती है। यदि इससे बाहर ही निकलना है तो फिर इसे शुरू ही क्यों किया जाये! यदि यह केवल तुम्हें यह सिखाने के लिए है कि इसमें से कैसे बाहर निकला जा सकता है तो इतना संघर्ष करने का, इतना दुःख भोगने का क्या लाभ, ऐसी सृष्टि बनाने का

क्या लाभ जो कम-से-कम अपने बाह्य रूप में इतनी दुःखान्त और नाटकीय हो—तब तो आरम्भ न करना ही कहीं अधिक अच्छा होता।

लेकिन यदि तुम चीज़ों की एकदम गहराई तक जाओ, केवल अहंभाव से ही विमुक्त नहीं, बल्कि अहं से भी विमुक्त होकर अपने-आपको पूरी तरह, बिना कुछ बचाये, इतनी सम्पूर्णता और अनासक्ति के साथ समर्पित कर दो कि तुम परम प्रभु की योजना को समझने के योग्य बन जाओ तो तुम जान जाओगे कि यह एक भद्दा मज़ाक **नहीं** है, आरम्भिक बिन्दु तक वापस आने के लिए टेढ़ा-मेढ़ा, थोड़ा घिसा-पिटा रास्ता **नहीं** है। इसके विपरीत, यह तो सारी सृष्टि को जीने का आनन्द, जीने का सौन्दर्य, जीने की महिमा, एक उदात्त जीवन की भव्यता और उस आनन्द, सौन्दर्य और महिमा की सतत प्रगतिशील वृद्धि सिखाने के लिए है। तब हर चीज़ का अर्थ होता है, और तब संघर्ष करके, दुःख भोग कर तुम्हें पछतावा नहीं होता। तुम्हारे अन्दर केवल दिव्य लक्ष्य को प्राप्त करने का उत्साह होता है और उस प्राप्ति के लिए लक्ष्य और विजय की **निश्चिति** के साथ तुम सिर के बल कूद पड़ते हो।

लेकिन यह जान सकने के लिए अहंवादी होना छोड़ना पड़ेगा, परम उत्स से कट कर, अपने में सिमट-सिकुड़ कर एक अलग व्यक्ति होना छोड़ना होगा। सबसे बढ़ कर ज़रूरी है : अपने अहं को उतार फेंकना। और तब तुम अपने सच्चे लक्ष्य को पहचान सकोगे—और बस, यही एक तरीक़ा है!

अपने अहं को उतार फेंकना, एक व्यर्थ परिधान की तरह गिर जाने देना।

फल को देखते हुए इसके लिए प्रयत्न करना सार्थक है। और फिर पथ पर तुम अकेले नहीं हो। यदि तुम्हारे अन्दर भरोसा हो तो तुम्हें सहायता मिलती है।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ९, पृ. ४६२-६४

केवल 'तू'—बस।

और यह बिलकुल स्पष्ट है कि सृष्टि का 'वही' लक्ष्य है, ***वह अद्‌भुत आनन्द... 'तुझे' अनुभव करने का आनन्द।***

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ११, पृ २८६

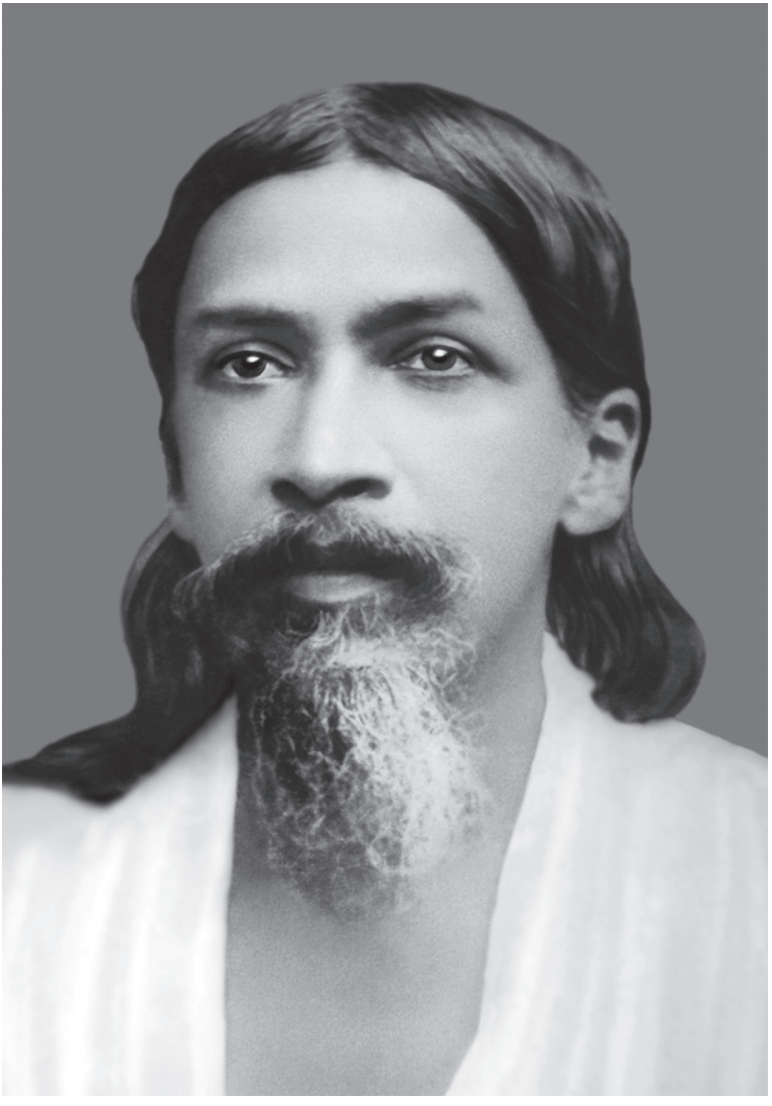

उसने भावी आगामी वस्तुओं के लिए महान् सपनों का एक साँचा रच लिया और अपनी कृतियों को काँसे में ढाल लिया वर्षों का सामना करने को।
'सावित्री', पृ. ४५

अतिसूक्ष्म अनन्त

नीरव 'अनन्तता' में से हुआ है हमारा आगमन!
इसके सम्मुख थे ये कोटि ब्रह्माण्ड
क्षुद्र केलि के ज्योति-बुद्‌बुद् साधारण,
'अनन्त' में टिमटिमाता एक क्षीण स्फुरण।

उस समग्र विराट् में इसे नहीं मिला अपना आत्म:
इसने लौटाया अपने को अतिसूक्ष्म
एक लघु कणिका में, पृथ्वी के पंक और कर्दम
से अपकृष्टवत् निकल वैचित्र्य से लेकर जन्म,—

वामनतुल्य सूर्य के लघु सौर परिवार
में अनियत भूमण्डल पर एक छोटा-सा जीव द्रव्य,
हाड़-मांस का परिधान पहने एक जीवन नगण्य,
विशाल व्योम में घूमने के लिए पंखयुक्त एक मन अल्पतर!

इसने जिया, इसने जाना, इसने देखा अपना आत्म महान्,
मृत्युहीन, अन्तरिक्ष से बढ़ कर अप्रमेय, काल से अधिक स्थितिमान।

CWSA खण्ड २, पृ. ५८९ **श्रीअरविन्द**

जीवन—एक यात्रा और एक आरोहण

मनुष्य का जीवन, जैसा कि यह साधारणतया बिताया जाता है, बहुत-से तत्त्वों के आधे स्थिर और आधे तरल द्रव्य से बना है। वे तत्त्व हैं—बहुत अपूर्ण रूप से नियन्त्रित विचार, इन्द्रियों के अनुभव, भावनाएँ, संवेदन, कामनाएँ, आसक्तियाँ तथा कर्म जो अधिक तो रूढ़िवादी या पुनरावर्ती और केवल आंशिक रूप में प्रभावशाली और विकसनशील होते हैं, लेकिन वे सबके सब व्यक्ति के उथले अहंकार के इर्द-गिर्द केन्द्रित रहते हैं। इन कामनाओं, अनुभवों इत्यादि गतियों का सम्मिलित परिणाम वह आन्तरिक विकास होता है जो कुछ अंश में तो इसी जीवन में प्रत्यक्ष और प्रभावी होता है और कुछ अंश में भावी जन्मों में होने वाली प्रगति के लिए बीज का काम करता है। सचेतन सत्ता की यह प्रगति, उसका विस्तार, उसका उत्तरोत्तर आत्म-प्रकाशन और सामञ्जस्यपूर्ण विकास ही मनुष्य के अस्तित्व और उसके जीवन का सम्पूर्ण अर्थ और सम्पूर्ण सार है। चेतना के इस सार्थक विकास के लिए ही मनुष्य, यानी मनोमय प्राणी ने इस भौतिक शरीर में प्रवेश किया है। यह विकास विचार, इच्छा-शक्ति, संवेदना, कामना, कर्म और अनुभव की सहायता से होता है और अन्त में इससे परम दिव्य आत्म-ज्ञान प्राप्त हो सकता है। इसके अलावा बाक़ी सब कुछ सहायक और गौण है या फिर निष्प्रयोजन। केवल वही चीज़ आवश्यक है जो मनुष्य की प्रकृति के विकास में और उसकी अन्तरात्मा तथा आत्मा की उन्नति में उत्तरोत्तर पोषक और सहायक हो। CWSA खण्ड २३, पृ. ८९-९०

आरोहण के तीन क्रम हैं,—सबसे नीचे शारीरिक जीवन है जो आवश्यकता तथा कामना के दबाव के वशीभूत है, बीच में मानसिक, उच्चतर भावनामय तथा आन्तरात्मिक नियम है जो महत्तर हितों, अभीप्साओं, अनुभवों एवं विचारों को टोहता है और शिखर पर पहले तो गभीरतर आन्तरात्मिक तथा आध्यात्मिक भूमिका है और फिर अतिमानसिक नित्य चेतना है जिसमें हमारी सब अभीप्साएँ एवं जिज्ञासाएँ अपना आन्तरिक अर्थ जान लेती हैं। शारीरिक जीवन में सर्वप्रथम कामना एवं आवश्यकता और उसके बाद व्यक्ति तथा समाज के क्रियात्मक हित ही प्रभुत्वशाली विचार तथा

प्रधान प्रेरक बल होते हैं। मानसिक जीवन में विचारों तथा आदर्शों का प्रभुत्व होता है—उन विचारों का जो सत्य का वेश धारण किये हुए अर्ध-प्रकाश होते हैं, तथा उन आदर्शों का जो बढ़ते हुए, लेकिन अपूर्ण अन्तर्ज्ञान एवं अनुभव के परिणाम के रूप में मन के द्वारा विरचित होते हैं। जब कभी मानसिक जीवन प्रबल होता है तथा शारीरिक जीवन अपना पाशविक आग्रह कम कर देता है, तब मनुष्य—मनोमय प्राणी—अपने-आपको मानसिक प्रकृति के उस आवेग से प्रेरित अनुभव करता है जो व्यक्ति के जीवन को विचार अथवा आदर्श की भावना में ढाल देने का आवेग होता है, और अन्त में समाज का अधिक अनिश्चित एवं अधिक जटिल जीवन भी इस सूक्ष्म प्रक्रिया में से गुज़रने को बाध्य होता है। आध्यात्मिक जीवन में अथवा उस अवस्था में, जब मन से अधिक ऊँची शक्ति प्रकट हो चुकती है तथा प्रकृति को अपने अधिकार में कर लेती है, ये सीमित प्रेरक-बल पीछे हटने तथा लुप्त होते जाते हैं। तब, एकमात्र, आध्यात्मिक अथवा अतिमानसिक आत्मा, भागवत पुरुष या परात्पर तथा विश्वगत सत् तत्त्व ही हमारा ईश्वर होता है और वही हमारी प्रकृति के नियम या 'स्व-धर्म' की उच्चतम, विशालतम एवं सर्वांगीणतम सम्भव अभिव्यक्ति के अनुसार हमारे चरम विकास को स्वच्छन्दतापूर्वक गढ़ता है। अन्त में हमारी प्रकृति पूर्ण सत्य तथा इसकी सहज स्वतन्त्रता में कार्य करने लगती है; क्योंकि वह केवल सनातन की ज्योतिर्मयी शक्ति का ही अनुसरण करती है। व्यक्ति के लिए तब और कोई चीज़ प्राप्त करने को नहीं रह जाती, न कोई कामना ही पूर्ण करने को शेष रहती है; वह तो सनातन के निर्वैयक्तिक स्वरूप या विराट् व्यक्तित्व का अंश बन जाता है। जीवन में भागवत आत्मा को अभिव्यक्त और लीलायित करना तथा दिव्य लक्ष्य की ओर यात्रा करते हुए संसार को बनाये रखना और उसका परिचालन करना—इन उद्देश्यों को छोड़ कर और कोई उद्देश्य तब उसे कार्य के लिए प्रेरित नहीं कर सकता। मानसिक धारणाएँ और कल्पनाएँ तब और उसकी अपनी नहीं रहतीं; क्योंकि उसका मन निश्चल-नीरव हो जाता है, यह तब दिव्य ज्ञान के प्रकाश तथा सत्य की प्रणालिका-मात्र होता है। आदर्श उसकी आत्मा की विशालता के लिए अत्यन्त संकीर्ण हो जाते हैं; उसके अन्दर तो अनन्त का महासागर सदा हिलोरें मारता और उसे गति देता रहता है। CWSA खण्ड २३, पृ. २०८-०९

जगत्-पहेली की चाबी

सृष्टि क्या है :

जो सत् अपनी चेतना की शक्ति और उसके शुद्ध आनन्द द्वारा लीला और सृजन करता है वही जो कुछ हम हैं उसका वास्तविक रूप है, हमारे सभी बाह्याचारों और आन्तरिक वृत्तियों की वही आत्मा है, हमारी सभी क्रियाओं, हमारे सभी सम्भवन और सृजन का कारण, उद्देश्य और लक्ष्य है।

जैसे कोई ००कवि, कलाकार या संगीतकार जब कोई रचना करता है तो वह सचमुच कुछ नहीं करता, केवल अपनी अनभिव्यक्त आत्मा की किसी सम्भावना को अभिव्यक्ति में रूप देता है और जैसे कोई विचारक, राजनेता, या कोई यन्त्र चलाने वाला, वस्तुओं के रूप में केवल उसी चीज़ को बाहर लाते हैं जो उनके अन्दर छिपी हुई थी, स्वयं उनका रूप थी और बाह्य रूपों में ढाले जाने पर भी उनका आत्मरूप ही बनी रहती है, वही बात जगत् और शाश्वत के बारे में भी है।

समस्त सृष्टि या सम्भूति इस आत्माभिव्यक्ति के सिवा और कुछ नहीं है। बीज में से वही चीज़ अभिव्यक्त होती है जो पहले ही बीज में है, सत्ता में पहले से मौजूद, उसके सम्भूति के संकल्प में पहले से निर्दिष्ट, सम्भूति के आनन्द में पहले से व्यवस्थित है।

आदि जीवद्रव्य अपने अन्दर अस्तित्व की शक्ति में परिणामी शरीर-विन्यास को धारे हुए था क्योंकि यह सदा वही गुप्त-गर्भा आत्मज्ञानवाली शक्ति है जो अपने ही अदम्य आवेश के अधीन अपने अन्तर्गूढ़ रूप को अभिव्यक्त करने के लिए श्रम करती है।

केवल वह व्यष्टि जो सृजन करता या अपने अन्दर से विकसित करता है वही अपने, यानी अपने अन्दर कार्य करने वाली शक्ति और उस वस्तु में भेद करता है जिसमें वह काम कर रहा है। वस्तुतः शक्ति वह स्वयं है, वह शक्ति जिस व्यष्टिभावापन्न चेतना का उपयोग करती है वह भी वह स्वयं है और वह जिस द्रव्य का उपयोग करती है वह भी वह स्वयं है और परिणामस्वरूप आने वाला रूप भी वह स्वयं ही है।

दूसरे शब्दों में कहें तो यह एक ही सत् है, एक ही शक्ति है, एक ही सत्ता का आनन्द है जो विभिन्न बिन्दुओं पर केन्द्रित होकर हर एक के बारे

में कहता है, "यह मैं हूँ" और आत्म-रूपायन के बहुविध खेल के लिए आत्मशक्ति के नानाविध खेल द्वारा उसमें क्रिया करता है।

सत् जो चाहता है :

वह जो कुछ पैदा करता है वह स्वयं वह है, और उसके सिवा कुछ नहीं हो सकता। वह अपनी निजी सत्ता, चेतना की शक्ति और सत्ता के आनन्द में से एक खेल, एक लय, एक विकास कार्यान्वित कर रहा है।

अतः, जो कुछ जगत् में आता है वह और कुछ नहीं, बस यही चाहता है—वह होना चाहता है, अभिप्रेत रूप तक पहुँचना चाहता है, अपनी आत्मसत्ता को उस रूप में विस्तृत करना चाहता है, उसके अन्दर की चेतना और शक्ति को अनन्त रूप से विकसित, अभिव्यक्त, समृद्ध और चरितार्थ करना चाहता है। अभिव्यक्ति में आने का आनन्द, सत्ता के रूप का आनन्द, चेतना के लय का आनन्द, शक्ति के खेल का आनन्द और जो भी साधन सम्भव हों उनके द्वारा उस आनन्द को बढ़ाना और पूर्ण करना, चाहे जिस भी दिशा में हो, उसके बारे में उसका चाहे जो भी विचार हो जिसे उसकी गभीरतम सत्ता में सक्रिय सत्, चित्-शक्ति और आनन्द ने उसे सुझाया हो, वह उस आनन्द को बढ़ाना और पूर्ण करना चाहता है।

लक्ष्य क्या है :

यदि कोई लक्ष्य है, कोई पूर्णता है जिसकी ओर वस्तुएँ प्रवृत्त होती हैं तो वह केवल पूर्णता हो सकती है—व्यक्ति में पूर्णता, उस समग्र में पूर्णता जो व्यष्टियों से बनता है—उसकी आत्मसत्ता की, उसकी शक्ति और चेतना की और उसकी सत्ता के आनन्द की पूर्णता।

परन्तु व्यष्टिगत रूपायन में सीमित और केन्द्रित व्यष्टिगत चेतना में ऐसी पूर्णता सम्भव नहीं है। सान्त के अन्दर निरपेक्ष पूर्णता सम्भव नहीं है क्योंकि वह सान्त की अपनी धारणा के लिए विजातीय है।

अतः, एकमात्र सम्भव लक्ष्य है—व्यष्टि में अनन्त चेतना का उदय। **यह आत्मज्ञान और आत्मोपलब्धि के द्वारा अपने निजी सत्य की पुनःप्राप्ति है।** सत्ता में अनन्त, चेतना में अनन्त, आनन्द में अनन्त के सत्य को अपनी निजी आत्मा और 'वास्तविकता' के रूप में पुनः पाना है। सान्त उस अनन्त

का केवल एक मुखौटा और नानाविध अभिव्यक्ति के लिए साधन-मात्र है।

जगत्-पहेली की चाबी

इस प्रकार सच्चिदानन्द अपनी सत्ता को देश और काल के रूप में विस्तारित कर जो लीला कर रहे हैं उस जगत्-लीला के स्वरूप को देखते हुए हमें यह धारणा बनानी पड़ती है कि सचेतन सत्ता **पहले** पदार्थ की घनता और अनन्त विभाज्यता में उतर कर उसमें अन्तर्लीन हुई, कारण, अन्यथा यहाँ विविध प्रकार के सान्त रूप नहीं बन सकते; **फिर** वह आत्म-काराबद्ध शक्ति रूपमय सत्ता, प्राणमय सत्ता और चिन्तनशील सत्ता के रूप में आविर्भूत हुई; और **अन्त में** यह गठित चिन्तनशील सत्ता जब अपने-आपको जगत् में लीला कर रहे एकमेव और अनन्त के रूप में सुस्पष्टतया अनुभव कर लेती है तो मुक्त हो जाती है और इस मुक्ति के द्वारा असीम सत्-चित्-आनन्द को फिर से पा लेती है जैसी कि वह अब भी गुप्त रूप से, वास्तविक रूप से और शाश्वत रूप से है ही। यह त्रिविध गति ही जगत्-पहेली की चाबी है। CWSA खण्ड २१, पृ. १२०-२३

... यह कोई ऐसी सृष्टि न थी जिसे भगवान् से इतर किसी वस्तु से बनाया गया हो : यहाँ तो केवल भगवान् ने अपने-आपको निःसृत किया है मानों वे अपने-आपको देख रहे हैं, अपने-आपको मूर्त रूप दे रहे हैं ताकि वे स्वयं जो कुछ हैं उससे अवगत हो सकें; घनता और एकाग्रता की आन्तरिक अचल अवस्था में रहने की बजाय, जिसमें सब कुछ अनभिव्यक्त है, वे अपने-आपको अपने से बाहर प्रक्षिप्त करते हैं "ताकि देख सकें," मानों वे अपने अन्दर जो कुछ है, यानी, सम्भावनाओं की अनन्तता को, देखना चाहते हों।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ५, पृ ४११

व्यक्तिगत मुक्ति सृष्टि का उद्देश्य नहीं है

एक प्रचलित विचार हमें यह विश्वास बँधाएगा कि संसार के नश्वर जीवन में व्यष्टि-आत्मा के लिए शारीरिक पुनर्जन्म से छुटकारा प्राप्त करना ही मुक्ति का एकमात्र प्रयोजन है। यदि ऐसा छुटकारा एक बार निश्चित रूप से प्राप्त हो जाये तो आत्मा के लिए इहलोक या परलोक के जीवन में कोई और कर्म शेष नहीं रहता अथवा केवल वही कर्म शेष रहता है जिसकी ज़रूरत शरीर की सत्ता बनाये रखने के लिए होती है या जो विगत जन्मों के अभुक्त कर्मफलों के कारण आवश्यक होता है। यह थोड़ा-सा कर्म भी, योग की अग्नि से शीघ्र ही निःशेष या दग्ध होकर, मुक्त आत्मा के शरीर से प्रयाण करने पर समाप्त हो जायेगा। पुनर्जन्म से छुटकारे का लक्ष्य भारतीय मन के अन्दर चिरकाल से इस रूप में घर किये हुए है कि यही आत्मा का परम पुरुषार्थ है। इसने पारलौकिक स्वर्ग से उस सुख-भोग का स्थान ले लिया है जिसे अनेक धर्मों ने अपने दैवी प्रलोभन के रूप में भक्तों के मन में प्रतिष्ठित किया था। जब वैदिक सूक्तों के स्थूल बाह्य अर्थ का मत अत्यन्त प्रबल था तब भारतीय धर्म ने भी इस अधिक पुरातन और निम्नतर पुकार का ही समर्थन किया। परवर्ती भारत में द्वैतवादियों ने भी इसे अपने परमोच्च आध्यात्मिक लक्ष्य का अंग बनाये रखा। इसमें सन्देह नहीं कि मन और शरीर की सीमाओं से परे आत्मा की शाश्वत शान्ति, स्थिरता और नीरवता में मुक्ति प्राप्त करना मानसिक हर्षों या चिरस्थायी शारीरिक सुखों के स्वर्ग के प्रस्ताव की अपेक्षा अत्यधिक आकर्षक है, पर यह भी अन्ततः एक प्रलोभन ही है। ऐसी मुक्ति का यह आग्रह कि मन को जगत् से विरक्त और प्राण-सत्ता को जन्म लेने के साहसिक कर्म से पीठ मोड़ लेनी चाहिये एक प्रकार की दुर्बलता को ही ध्वनित करता है और इसलिए ऐसी मुक्ति हमारा परम लक्ष्य नहीं हो सकती। वैयक्तिक मोक्ष की कामना अहंकार की ही उपज है, भले ही इस कामना का स्वरूप कैसा भी ऊँचा क्यों न हो। इसका मूल आधार है, हमारे निजी व्यक्तित्व का तथा इसकी कामना और भलाई का विचार, दुःख से छूटने की लालसा या जन्मग्रहण के कष्ट के अवसान के लिए इसकी चीख-पुकार। इन चीज़ों को ही यह हमारे जीवन का परम लक्ष्य निश्चित करती है। अहंकार के इस आधार

के पूर्ण निराकरण के लिए वैयक्तिक मोक्ष की कामना से ऊपर उठना आवश्यक है। यदि हम भगवान् को खोजते हैं तो यह खोज भगवान् के लिए ही होनी चाहिये और किसी चीज़ के लिए नहीं, क्योंकि यही हमारी सत्ता की परम पुकार है और यही हमारी आत्मा का गभीरतम सत्य है। मोक्ष की प्राप्ति एवं आत्मा के स्वातन्त्र्य के लिए तथा अपनी सच्ची एवं सर्वोच्च आत्मा की उपलब्धि और भगवान् के साथ मिलन के लिए प्रयत्न करने का समर्थन केवल इस कारण किया जाता है कि यह हमारी प्रकृति का उच्चतम विधान है एवं हमारे अन्दर के निम्नतर तत्त्व का परमोच्च तत्त्व की ओर आकर्षण है और यही हमारे अन्दर भगवान् की इच्छा है। यह कारण इसे पर्याप्त रूप से सार्थक सिद्ध करता है और यह इसका सच्चे-से-सच्चा कारण है।...

सच्चा मोक्ष प्राप्त करना या पुनर्जन्म के बन्धन से सच्चा छुटकारा पाना यह नहीं है कि पार्थिव जीवन का त्याग कर दिया जाये या व्यक्ति एक आध्यात्मिक स्व-विलोप के द्वारा जीवन से भाग जाये, जैसे कि सच्चा संन्यास यह नहीं है कि परिवार या समाज का केवल स्थूल रूप से त्याग कर दिया जाये। सच्चा मोक्ष उस भगवान् के साथ आन्तर तादात्म्य है जिसमें अतीत जीवन और भावी जन्म का कोई बन्धन नहीं है, बल्कि इनके स्थान पर अज आत्मा की शाश्वत सत्ता है। *गीता* कहती है कि जो अन्दर से स्वतन्त्र है वह सभी कर्म करता हुआ भी कुछ नहीं करता; प्रकृति ही उसके अन्दर अपने स्वामी की अधीनता में कार्य करती है। इसी प्रकार, चाहे वह सैकड़ों बार शरीर धारण करे फिर भी वह जन्म के हर प्रकार के बन्धन से या सत्ता के यन्त्रवत् घूमने वाले चक्र से मुक्त रहता है, क्योंकि वह अज एवं अविनाशी आत्मा में निवास करता है, शरीर के जीवन में नहीं। CWSA खण्ड २३, पृ. २६८-२७०

आज हम जो कुछ हैं तथा जो कुछ जानते हैं उससे बिलकुल परे की किसी वस्तु को जब हम आन्तरिक रूप से जान लेते हैं और उसकी ओर प्रबल रूप से आकृष्ट हो जाते हैं तो हमारी प्रथम सर्वग्रासी प्रवृत्ति यह होती है कि हम अपने वर्तमान यथार्थ जीवन को त्याग कर पूर्ण रूप से उस उच्चतर सद्वस्तु में ही निवास करें। इस आकर्षण का चरम रूप तब देखने

में आता है जब हम परमोच्च सत् और अनन्त आनन्द की ओर आकृष्ट होते हैं। उस चरम आकर्षण का अभिप्राय है, निम्नतर तथा सान्त सत्ता को भ्रम मान कर हेयता की दृष्टि से देखना तथा परतत्त्व में निर्वाण पाने के लिए अभीप्सा करना, आत्मा में लय, निमज्जन एवं निर्वाण लाभ करने के लिए उत्कट अभिलाषा करना। परन्तु वास्तविक लय अर्थात्, सच्चे निर्वाण का अर्थ यह है कि हम उन सब विशिष्ट तत्त्वों को, जो अनिवार्य रूप से निम्नतर सान्त से ही सम्बन्ध रखते हैं, उच्चतर सद्वस्तु की विशालतर सत्ता में ले जाकर मुक्त कर दें तथा जीवन्त-जाग्रत् परमार्थ-सत्ता अपने सजीव प्रतीक को सचेतन रूप से अपने अधिकार में कर ले। अन्त में हमें पता चलता है कि यही नहीं कि वह उच्चतर सद्वस्तु शेष सब वस्तुओं का मूल कारण है तथा उन सबको अपने अन्दर धारण किये है और उनमें विद्यमान भी है, बल्कि जितना ही अधिक हम उसे उपलब्ध करते हैं उतना ही अधिक अन्य सब वस्तुएँ हमारे आत्मानुभव में उच्चतर मूल्य की वस्तुओं में रूपान्तरित हो जाती हैं और परमार्थ-सत्ता की समृद्धतर अभिव्यक्ति के, अनन्त के साथ अधिक बहुमुखी अन्तर्मिलन के तथा परात्पर की ओर विशालतर आरोहण के साधन बन जाती हैं। अन्त में, हम निरपेक्ष सत्ता तथा उसके उन परमोच्च मूल्यों के निकट पहुँच जाते हैं जो सब वस्तुओं के निरपेक्ष रूप हैं। उसके बाद हमारा मुमुक्षुत्व अर्थात्, मोक्ष की कामना ही समाप्त हो जाती है जो तब तक हमें प्रेरित करती आ रही थी, क्योंकि अब हम उस सत्ता के घनिष्ठ सामीप्य में पहुँच गये हैं जो नित्य-मुक्त है।
CWSA खण्ड २३, पृ. ५०७-०८

जगत् एक दुर्भाग्यपूर्ण दुर्घटना नहीं है, यह एक ऐसा चमत्कार है जो अपनी अभिव्यक्ति की ओर गति कर रहा है।

जगत् को भविष्य के सौन्दर्य की निश्चिति की ज़रूरत है।

और श्रीअरविन्द ने यह आश्वासन दिया है।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १३, पृ १५

दिव्य जीवन में विकास

आत्म-स्वरूप बन जाना ही एकमात्र करने-लायक़ काम है। लेकिन हमारा सच्चा आत्म-स्वरूप वह है जो हमारे अन्दर है। इस उच्चतम सत्ता के लिए, जो हमारी सच्ची और दिव्य सत्ता है, उसके अपने-आपको प्रकट करने और सक्रिय होने के लिए शर्त यह है कि हम शरीर, प्राण और मन की बाहरी सत्ता का अतिक्रमण करें। केवल अन्दर बढ़ने या अन्दर निवास करने से ही हम उसे पा सकते हैं। एक बार यह हो जाये तो वहाँ से आध्यात्मिक और दिव्य मन, प्राण और शरीर का निर्माण करना और इस यन्त्र-विन्यास द्वारा ऐसे जगत्-निर्माण तक पहुँचना—जो दिव्य जीवन का सच्चा पर्यावरण होगा—यही वह चरम लक्ष्य है जिसे प्रकृति की शक्ति ने हमारे आगे प्रस्तुत किया है। अतः, पहली आवश्यकता यह है कि व्यक्ति, प्रत्येक व्यक्ति अध्यात्म पुरुष को, अपने अन्दर की दिव्य सद्वस्तु को खोजे और उसे अपनी पूरी सत्ता और समस्त जीवन में प्रकट करे। दिव्य जीवन को पहले-पहल और मुख्य रूप से आन्तरिक जीवन होना चाहिये और, चूँकि बाह्य जीवन को जो कुछ अन्दर है उसकी अभिव्यक्ति होना चाहिये, अतः अगर आन्तरिक सत्ता दिव्य न बनी हो तो बाहरी जीवन में दिव्यत्व नहीं आ सकता। मनुष्य के अन्दर भगवान् परदे के अन्दर उसके आध्यात्मिक केन्द्र में निवास करते हैं। अगर मनुष्य के अन्दर शाश्वत आत्मा, शाश्वत पुरुष की वास्तविकता न हो तो उसके लिए अपना अतिक्रमण करने की कोई बात ही नहीं हो सकती और न ही उसके जीवन का उच्चतर परिणाम ही हो सकता है।

हमारे अन्दर प्रकृति का लक्ष्य है होना और पूरी तरह होना; परन्तु पूरी तरह होने का अर्थ है, अपनी सत्ता के बारे में पूरी तरह सचेतन होना: अचेतना, अर्ध-चेतना या अपूर्ण चेतना सत्ता की ऐसी स्थिति है जिसे अपने ऊपर अधिकार नहीं होता; वह अस्तित्व तो है पर सत्ता की पूर्णता नहीं। अपने बारे में और अपनी सत्ता के सम्पूर्ण सत्य के बारे में पूरी तरह और समग्र रूप में अभिज्ञ होना अस्तित्व पर सच्चे अधिकार की प्राप्ति की आवश्यक शर्त है। आध्यात्मिक ज्ञान का अर्थ है यही आत्म-अभिज्ञता। आध्यात्मिक

ज्ञान का सारतत्त्व है, अन्तर्मुख स्वयम्भू चेतना। उसका सारा ज्ञान-कर्म, वस्तुतः उसका किसी भी तरह का कर्म अपने-आपको निरूपित करती हुई यह चेतना ही होगा। अन्य समस्त ज्ञान है ऐसी चेतना जो अपने-आपको भूली हुई है और अपनी तथा अपनी अन्तर्वस्तुओं के बारे में अपनी अभिज्ञता की ओर लौटने के लिए प्रयास कर रही है, वह आत्म-अज्ञान है जो अपने-आपको आत्म-ज्ञान में फिर से रूपान्तरित करने के लिए श्रम कर रहा है।

लेकिन साथ ही, चूँकि चेतना अपने अन्दर अस्तित्व की शक्ति लिये रहती है, अतः पूरी तरह होने का अर्थ है, अपनी सत्ता की अन्तरंग और अखण्ड शक्ति को धारण करना। यह अपनी सारी आत्म-शक्ति और उसके पूरे प्रयोग पर अधिकार करना है। केवल होना, अपनी सत्ता की शक्ति पर अधिकार पाये बिना या आधी शक्ति या त्रुटिपूर्ण शक्ति के साथ होना विकलांग या क्षीण अस्तित्व है, यह अस्तित्व रखना तो है लेकिन सत्ता की पूर्णता नहीं है। वस्तुतः यह सम्भव है कि केवल निष्क्रिय स्थिति में अस्तित्व बना रहे और सत्ता की शक्ति आत्मा में आत्म-संगृहीत और निश्चल रहे, फिर भी स्थिति और गति दोनों में होना अस्तित्व की पूर्णता है। आत्मा की शक्ति आत्मा के अन्दर दिव्यता की शक्ति का चिह्न है। शक्तिहीन अध्यात्म पुरुष अध्यात्म पुरुष नहीं है। परन्तु जैसे आध्यात्मिक चेतना अन्तस्थ और स्वयम्भू है उसी तरह हमारी आध्यात्मिक सत्ता की यह शक्ति भी अन्तस्थ, क्रिया में स्वचालित, स्वयम्भू और स्वयंसिद्धिका होनी चाहिये। वह जिस यन्त्र-विन्यास का उपयोग करती है वह उसी का भाग होना चाहिये। अगर वह किसी बाहरी साधन का उपयोग करे तो उसे भी उसका अपना अंग और अपनी सत्ता की अभिव्यक्ति करने वाला बना लेना चाहिये। सचेतन क्रिया में सत्ता की शक्ति ही इच्छा है और अध्यात्म-पुरुष की जो भी सचेतन इच्छा हो, उसकी सत्ता और सम्भूति की जो भी इच्छा हो, उसे सारे अस्तित्व को पूरे सामञ्जस्य के साथ पूरा कर सकना चाहिये। जिस किसी कर्म या क्रिया-ऊर्जा में यह प्रभुत्व न हो या क्रिया-विन्यास पर अधिकार न हो उसमें इस त्रुटि के कारण सत्ता की शक्ति की अपूर्णता का, चेतना के विभाजन या अक्षम बनाने वाले खण्डीकरण का, सत्ता की

अभिव्यक्ति में अपूर्णता का लक्षण रहेगा।

और अन्त में, पूरी तरह होने का अर्थ है, सत्ता का पूर्ण आनन्द पाना। ऐसी सत्ता जिसमें सत्ता का आनन्द न हो, जो अपने-आपके और समस्त वस्तुओं के सम्पूर्ण आनन्द से रहित हो, वह निष्प्रभ या ह्रसित चीज़ है। वह अस्तित्व तो है पर सत्ता की परिपूर्णता नहीं। यह आनन्द भी अन्तस्थ, स्वयम्भू, स्वचालित होना चाहिये। वह अपने से बाहर की चीज़ों पर आश्रित नहीं रह सकता। वह जिस चीज़ में आनन्द लेता है उसे वह अपना अंश बना लेता है, उसके आनन्द को अपनी सार्विकता के अंश के रूप में लेता है। समस्त निरानन्द, समस्त कष्ट और वेदना अपूर्णता का, असम्पूर्णता का लक्षण है। वे सत्ता के विभाजन, सत्ता की चेतना की अपूर्णता, सत्ता की शक्ति की अपूर्णता से उठते हैं। सत्ता में पूर्ण होना, सत्ता की चेतना में, सत्ता की शक्ति में, सत्ता के आनन्द में पूर्ण होना और इस सर्वांगीण पूर्णता में निवास करना ही दिव्य जीवन है।

लेकिन फिर, पूरी तरह से होने का अर्थ है, वैश्व रूप में होना। एक छोटे-से सीमित अहंकार की सीमाओं में रहने का अर्थ है, अस्तित्व धारण करना, लेकिन वह अपूर्ण अस्तित्व होता है। उसकी प्रकृति के अनुसार उसका अर्थ होगा, अपूर्ण चेतना में, अपूर्ण शक्ति और सत्ता के अपूर्ण आनन्द में जीना। यह अपने-आपसे कम होना है और यह अज्ञान, दुर्बलता और कष्ट की अनिवार्य अधीनता ले आना है और अगर प्रकृति के किसी दिव्य संयोजन द्वारा वह इन चीज़ों को दूर भी रख सके तो यह अस्तित्व के सीमित क्षेत्र में, सीमित चेतना और शक्ति और सत्ता के हर्ष में जीना होगा। समस्त सत्ता एक है और पूरी तरह होने का अर्थ है, वह सब होना जो अस्तित्व रखता है। सबकी सत्ता में होना, सबको अपनी सत्ता में मिला लेना, सबकी चेतना में सचेतन होना, अपनी शक्ति में वैश्व शक्ति के साथ मिल जाना, समस्त क्रिया और अनुभव को अपने अन्दर वहन करना और उसे अपनी ही क्रिया और अपना ही अनुभव मानना, सभी आत्माओं को अपनी ही आत्मा के रूप में अनुभव करना, सत्ता के समस्त आनन्द को अपनी ही सत्ता के आनन्द के रूप में अनुभव करना—यह सर्वांगीण दिव्य जीवन की ज़रूरी शर्त है।

लेकिन इस तरह वैश्व भाव से अपने वैश्व भाव की स्वाधीनता और पूर्णता में रहने के लिए साथ-ही-साथ परात्परता में भी रहना होता है। सत्ता की आध्यात्मिक पूर्णता है शाश्वतता। अगर किसी के अन्दर कालातीत शाश्वत सत्ता की चेतना नहीं है, अगर कोई शरीर या शरीरस्थ मन या शरीरस्थ प्राण पर आश्रित है या इस जगत् या उस जगत् पर या सत्ता की इस स्थिति या उस स्थिति पर आश्रित है तो यह आत्मा की वास्तविकता नहीं है, हमारे आध्यात्मिक जीवन की पूर्णता नहीं है। केवल शरीर की आत्मा होकर रहना या केवल शरीर के सहारे होना, मृत्यु और कामना, कष्ट और वेदना, अवनति और क्षय के आधीन क्षणभंगुर प्राणी होना है। अतिक्रमण करना, शरीर की चेतना के परे जाना, शरीर के अन्दर बँधा न रहना, शरीर के भरोसे न रहना, शरीर को केवल यन्त्रवत् मानना जो आत्मा का बाह्य छोटा-सा रूपायण है, यह दिव्य जीवन की **पहली शर्त** है। अज्ञान और चेतना के प्रतिबन्ध के अधीन मन न बने रहना, मन का अतिक्रमण करना और उसे यन्त्र के रूप में काम में लाना, उसे आत्मा के सतही रूपायण के रूप में नियन्त्रित करना, यह **दूसरी शर्त** है। आत्मा और अध्यात्म सत्ता के सहारे होना, प्राण पर निर्भर न करना, उसके साथ एकात्म न होना, उसका अतिक्रमण करना और उसे आत्मा की अभिव्यक्ति और उपकरण की तरह नियन्त्रित करना और व्यवहार में लाना, यह **तीसरी शर्त** है। अगर चेतना शरीर का अतिक्रमण न करे और सारे जड़गत अस्तित्व के साथ अपना भौतिक एकत्व अनुभव न करे तो शारीरिक जीवन भी अपने निजी तरीक़े से अपनी परिपूर्ण सत्ता प्राप्त नहीं करता। अगर चेतना व्यष्टिगत प्राण की प्रतिबद्ध लीला का अतिक्रमण न करे और वैश्व प्राण को अपने प्राण के रूप में और समस्त जीवन के साथ अपना एकत्व अनुभव न करे तो प्राणिक जीवन भी अपने प्रकार में अपना पूर्ण जीवन नहीं प्राप्त करता। अगर हम वैयक्तिक मानसिक सीमाओं का अतिक्रमण न करें, विश्वमन और सकल मन के साथ एकत्व का अनुभव न करें और उनकी विभिन्नताओं के वैभव में परिपूरित अपनी चेतना के अखण्ड होने का स्वाद न लें तो मानसता अपने प्रकार से परिपूर्ण सचेतन अस्तित्व या क्रिया नहीं होती। लेकिन हमें केवल व्यक्तिगत सूत्र का ही नहीं, वैश्व सूत्र का भी अतिक्रमण करना चाहिये, क्योंकि केवल इसी तरह व्यष्टिगत या

विश्वगत सत्ता अपनी सच्ची सत्ता और पूर्ण समन्वय को पा सकती है। दोनों ही अपने बाह्य रूपायण में परात्पर की अपूर्ण अवस्थाएँ हैं, लेकिन अपने सारतत्त्व में वे वही हैं और केवल उस सारतत्त्व के बारे में सचेतन होकर ही व्यक्तिगत चेतना या वैश्व चेतना अपनी वास्तविकता की निजी पूर्णता और स्वाधीनता तक पहुँच सकती है। अन्यथा, व्यक्ति वैश्व गतिविधि, उसकी प्रतिक्रियाओं और सीमाओं के अधीन रह कर अपनी पूरी आध्यात्मिक स्वाधीनता से वञ्चित रह सकता है। उसे चरम दिव्य सद्वस्तु में प्रवेश करना चाहिये, उसके साथ अपने एकत्व का अनुभव करना, उसमें निवास करना और उसका आत्म-सृजन होना चाहिये। उसके समस्त मन, प्राण और शरीर को उसी की पराप्रकृति की अवस्थाओं में बदलना चाहिये। उसके सभी विचार, संवेदन और क्रियाएँ उसी के द्वारा निर्धारित और वही हो जाने चाहियें, उसके आत्म-रूपायण होने चाहियें।

अगर भौतिक प्रकृति में क्रमविकास है और अगर वह सत्ता का ऐसा विकास है जिसकी दो कुञ्जियाँ और शक्तियाँ हैं चेतना और प्राण, तो सत्ता की यह पूर्णता, चेतना की यह पूर्णता, प्राण की यह पूर्णता विकास का ऐसा लक्ष्य होनी चाहिये जिसकी ओर हम बढ़ रहे हैं और हमारी नियति में जल्दी हो या देर में वह प्रकट होगी। प्राण और जड़ की प्राथमिक निश्चेतना में जो आत्मा, जो अध्यात्म पुरुष, जो सद्वस्तु अपने-आपको प्रकट कर रही है वह अपनी सत्ता और चेतना के पूर्ण सत्य को उसी प्राण और जड़ में विकसित करेगी। वह स्वयं अपनी ओर लौटेगी, या अगर व्यक्ति के रूप में उसका लक्ष्य अपने निरपेक्ष में लौटना है तो वह उसमें भी लौट सकेगी—जीवन के प्रति कुण्ठा द्वारा नहीं बल्कि जीवन में अपनी आध्यात्मिक पूर्णता द्वारा। अज्ञान में हमारा विकास आत्मान्वेषण और जगत्-अन्वेषण के सुख-दुःख, उसकी अर्ध-परिपूर्णता, उसके सतत पाने और खोने के उतार-चढ़ाव से सजा है। यह तो हमारी पहली स्थिति है। यह अनिवार्य रूप से हमें ऐसे विकास की ओर ले जायेगी जो ज्ञान में होगा, तब अध्यात्म पुरुष की आत्म-प्राप्ति होगी, उसका आत्मोन्मेष होगा, वस्तुओं में विराजमान भगवान् का उस सच्ची आत्मशक्ति के साथ उस प्रकृति में आत्म-प्रकाश होगा जो हमारे लिए पराप्रकृति है। CWSA खण्ड २२, पृ. १०५९-६३, ११०७

स्वर्णिम प्रकाश

तेरे स्वर्णिम प्रकाश का मेरे मस्तिष्क में हुआ अवतरण
और मन के धुँधले कक्ष हो गये सूर्यायित
प्रज्ञा के तान्त्रिक तल के लिए एक उत्तर प्रसन्न,
एक शान्त प्रदीपन और एक प्रज्वलन।

तेरे स्वर्णिम प्रकाश का मेरे कण्ठ में हुआ अवतरण,
और मेरी सम्पूर्ण वाणी है अब एक दिव्य धुन,
मेरा अकेला स्वर तेरा स्तुति-गान;
अमर्त्य की मदिरा में उन्मत्त हैं मेरे वचन।

तेरे स्वर्णिम प्रकाश का मेरे हृदय में हुआ अवतरण
मेरे जीवन को तेरी शाश्वतता से करता आक्रान्त;
अब यह बन गया है तुझसे अधिष्ठित एक देवालय
और इसके सब भावावेगों का केवल तू एक लक्ष्य।

तेरे स्वर्णिम प्रकाश का मेरे पैरों में हुआ अवतरण;
मेरी धरती है अब तेरी लीलाभूमि और तेरा आयतन।

CWSA खण्ड २, पृ. ६०५ **श्रीअरविन्द**

दैनन्दिनी

सितम्बर

१. हर व्यक्ति में आध्यात्मिक सम्भावनाएँ होती हैं, प्रश्न होता है उनको विकसित करने के लिए **इच्छा-शक्ति** के होने का।

२. हम जितना अधिक सहन करते हैं भगवान् की शक्ति और उनका प्रेम उतने ही अधिक हमारे साथ रहते हैं और उतनी ही अधिक विजय की ख़ुशी होती है।

३. सत्य के लिए सच्ची अभीप्सा जीवन को मूल्य प्रदान करती है।

४. सदा अभीप्सा करना और भगवान् की उपस्थिति का अनुभव करना न उस स्थान पर निर्भर करता है जहाँ तुम रहते हो और न वहाँ की परिस्थितियों पर। वह आन्तरिक सच्चाई पर निर्भर करता है।

५. अपनी कठिनाइयों को भूल जाओ, हमेशा भगवान् का कार्य करने के लिए अधिकाधिक पूर्ण यन्त्र बनने की कोशिश करो और वे तुम्हारी सभी कठिनाइयों पर विजय पा लेंगे और तुम्हारा रूपान्तर कर देंगे।

६. हमेशा शिकायत करते रहना समय और ऊर्जा को नष्ट करना है।

७. तुमने एक भूल की और तुम्हें चुपके से अपनी भूल के परिणामों को स्वीकार कर लेना चाहिये। यह प्रगति करने और आगे से भूल न करने का सबसे अच्छा तरीक़ा है।

८. *(किसी ऐसे व्यक्ति को जो हमेशा भय से त्रस्त रहता है)*
विश्वास रखो कि भगवान् हमेशा तुम्हारे साथ हैं। तब तुम्हें कभी डर न लगेगा। आशीर्वाद।

९. भय सबसे बड़ा शत्रु है और वह जिससे भय खाता है उसे अपनी ओर आकर्षित करता है। जब तुम्हें डर लगता है तो क्रिया न करो। अगर तुम भय को जीत सको और उसके स्थान पर उचित विश्वास को रख सको तो बस आगे बढ़े चलो।

१०. श्रीमाँ के प्रति स्वयं को हमेशा खुला रखो, उन्हें हमेशा याद रखो तथा अन्य सभी प्रभावों को त्याग कर उनकी शक्ति को अपने अन्दर कार्य

करने दो—यही योग का नियम है।

११. अध्ययन का महत्त्व तभी है जब तुम ठीक तरह से ज्ञान प्राप्त करने और मानसिक अनुशासन के लिए अध्ययन करो।

१२. एक क्षण के लिए भी यह मत भूलो कि यह सब भगवान् ने अपने ही अन्दर से बनाया है। वे सब चीज़ों में उपस्थित ही नहीं है, बल्कि वे ही सब कुछ हैं। भेद मात्र अभिव्यक्ति और आविर्भाव में है। तुम यह भूल जाओ तो सब कुछ गँवा बैठते हो।

१३. जब कभी तुम देखो कि तुम भागवत उपस्थिति का अनुभव किये बिना कोई काम कर सकते हो और फिर भी आराम से रह सकते हो तो समझ लो कि तुम अपनी सत्ता के उस भाग में समर्पित नहीं हो।

१४. तुम्हारे अन्दर उस चीज़ को प्राप्त करने के लिए जो तुम्हारी प्रकृति में नहीं है, उसे जानने के लिए जिसे तुम अभी तक नहीं जानते, उसे कर सकने के लिए जिसे तुम अभी तक नहीं कर सकते, अडिग संकल्प होना चाहिये। निजी कामना के अभाव से आने वाली ज्योति और शान्ति में तुम्हें हमेशा प्रगति करनी चाहिये।

१५. ऐसा कोई भी नहीं है जिसके लिए भगवान् को पाना असम्भव हो। कुछ लोगों के लिए बहुत-बहुत जन्म लग जायेंगे जब कि ऐसे लोग भी हैं जो इसी जन्म में उन्हें पा लेंगे। यह संकल्प का प्रश्न है। चुनाव तुम्हें स्वयं करना होगा। लेकिन मुझे कहना चाहिये कि वर्तमान समय में परिस्थितियाँ विशेष रूप से अनुकूल हैं।

१६. सबसे उत्तम है हँसना और समस्या के विषय में कुछ न सोचना, तथा किसी ऐसी चीज़ पर एकाग्र होना जो अधिक दिलचस्प हो—वास्तव में दिलचस्प केवल एक ही चीज़ है : भगवान्—उनका सत्य, उनका प्रेम और उनका कार्य।

१७. प्रत्येक चीज़ के लिए, यहाँ तक कि अत्यन्त स्थूल वस्तुओं के लिए भी भगवान् पर पूर्ण श्रद्धा और विश्वास बनाये रखो, और फिर सब कुछ ठीक हो जायेगा।

१८. सच्ची और सतत अभीप्सा लक्ष्य की ओर जाने का, अर्थात् भगवान् के साथ सज्ञान एकत्व प्राप्त करने का, सबसे छोटा और सबसे अधिक सुनिश्चित पथ है।

१९. एकमात्र भगवान् का चिन्तन करो, एकमात्र भगवान् के ऊपर एकाग्र होओ और तुम अनुभव करोगे कि उनके समीप रहना सभी सम्भव विपत्तियों को, यहाँ तक कि भौतिक विपत्तियों को भी बदल सकता है।

२०. एक दिन सत्य का विजयी होना निश्चित है और कृपा-शक्ति सदैव विद्यमान है और अमोघ है। जो लोग अपनी श्रद्धा को अडिग बनाये रहते हैं वे सुरक्षित हैं।

२१. जीवन का सच्चा उद्देश्य है, अपनी अन्तरात्मा के साथ युक्त होना तथा परमात्मा में डूब जाना।

२२. शाश्वत प्रेम के सिवा प्रत्येक वस्तु निरन्तर बदलती रहती है।

२३. भगवान् का प्रेम तुम्हारे हृदय और तुम्हारे जीवन में भर जाये।

२४. अपनी अभीप्सा में सच्चे होने का अर्थ है—भगवान् को भगवान् के लिए चाहना, न कि नाम या यश या प्रतिष्ठा या शक्ति या मिथ्याभिमान की किसी प्रकार की तुष्टि के लिए चाहना।

२५. भगवान् सुनते हैं और आशीर्वाद देते हैं। उनके प्रेम की अनुकम्पा चिरकाल हमारे साथ है। हमारी सच्चाई ही उनकी विजय है।

२६. सच्चाई समस्त सच्ची उपलब्धि का आधार है।

२७. सम्पूर्ण अहं और अन्धकार को लुप्त करने के लिए कृतज्ञता की पवित्र, ऊष्मा-भरी, मधुर और प्रदीप्त ज्वाला हमेशा हमारे हृदय में जलती रहनी चाहिये, परम प्रभु की कृपा के लिए कृतज्ञता की ज्वाला जो साधक को अपने लक्ष्य की ओर ले जाती है—वह जितना अधिक कृतज्ञ होगा, भागवत कृपा के इस कार्य को पहचानेगा और उसके लिए धन्यवाद देगा उतना ही अधिक मार्ग छोटा होता जायेगा।

२८. निष्ठावान् रहो और तुम्हारी विजय होगी।

२९. *प्रश्न* : क्या यह सच है कि जब तक साधक की सच्चाई और समर्पण पूर्ण न हो जायें तब तक उसे बहुत कष्ट सहने पड़ते हैं?
उत्तर : यदि वह सच्चा रास्ता ले तो कष्ट सहने की ज़रूरत नहीं है, लेकिन कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है।

३०. अपना काम पूरी सच्चाई के साथ और जितना बन सके पूर्णता के साथ करना, निश्चय ही भगवान् की सेवा करने के सबसे अच्छे तरीक़ों में से एक है।

'तन मन सकल खाली कर्‌यो'

उस रात मैं अत्यन्त परिश्रान्त भाव से अपनी शैया पर गिर पड़ी। मन न जाने कैसा-सा हो रहा था। एक सर्वतोमुखी शून्यता, एक असीम अतृप्ति समस्त वायुमण्डल में व्याप्त थी।

जीवन में ऐसे बहुत से क्षण आते हैं जब मनुष्य को एक अजीब सूनापन-सा अनुभव होता है; एक व्यर्थ आकुलता उसके मन-प्राण पर अपना अधिकार कर लेती है। उसे ऐसा प्रतीत होता है कि वह अपूर्ण है, उसमें कहीं कोई कमी है, कोई अभाव है, एक अतृप्त अभिलाषा है। पर क्या है वह—यह क्या किसीने समझा है? यदि समझ भी जाये तो कौन-सी वस्तु उसकी इस भूख को मिटा सकती है?

उस रात के घनीभूत अन्धकार में मेरे हृदय में एक टीस-सी उठ रही थी। मैंने अपनी आँखें मूँद लीं और नींद ले आने का विफल प्रयास करने लगी। न जाने ऐसे कितने क्षण बीत गये।

अचानक रात्रि की गम्भीर निस्तब्धता को भेदती एक स्वर-लहरी मेरे कानों में गूँज उठी—'तन मन सकल खाली कर्‌यो।'

यह कैसा स्वर है? कहाँ से आ रहा है? एक ही लड़ी भिन्न-भिन्न सुरों में क्रीड़ा कर रही थी—'तन मन सकल खाली कर्‌यो।'

ओह! इस स्वर के उतार-चढ़ाव मेरे हृदय के सूनेपन से एकाकार कैसे हो उठे हैं! ऐसा प्रतीत हो रहा था जैसे कोई अपने सारे प्राण ढाल कर इसी एक पंक्ति को दोहरा रहा हो। मैं अब अपने को अधिक रोक न सकी। पैर अपने-आप गतिमान हो उठे। कहाँ? किधर? क्या गाने के उद्‌गम-स्थान की खोज में? ज्यों-ज्यों मैं आगे बढ़ने लगी, स्वर क्रमशः दूर होता गया। बस एक ही तान—'तन मन सकल खाली कर्‌यो।'

चलते-चलते मैं बस्ती से दूर—बहुत दूर निकल गयी। पैर काँटों से चलनी हो गये थे, पर उनमें हवा भरी थी, उड़ाये लिये जाते थे। अन्त में ऐसा लगा जैसे यह स्वर पास के एक कुञ्ज से आ रहा हो। मैं उसी ओर लपकी। यह क्या, राग बन्द हो गया। कहाँ, वहाँ तो कहीं कोई नहीं था। हारी-थकी मैं वहीं धम् से बैठ गयी। शरीर के नीचे कुछ चुभता-सा जान पड़ा। अन्धकार में टटोला—बाँस की एक पतली लकड़ी-सी थी। पर ज्यों

ही मैंने उसे हाथ में लिया, वह एक अद्‌भुत प्रकाश से जगमगा उठी। उसी प्रकाश के सहारे मैं देख पायी, वह तो एक खोखली बाँसुरी थी। अचानक हृदय-तन्त्री के तार झंकृत हो उठे—'तन मन सकल खाली कर्‌यो।' मैं ठगी-सी बैठी रह गयी। तो क्या यह बाँसुरी ही गा रही थी? हैं! यह तो मुस्कुरा रही है, शायद कुछ कह भी रही है—

"क्यों, खाली करते भय लगता है क्या? अरी पगली, खाली नहीं करेगी तो भरेगी कैसे?" कहते-कहते उसकी आँखें आधी मुँद-सी गयीं। वह गा रही थी— "जो सुर जब जैसो भर्‌यो, तैसो ही निकर्‌यो।
तन मन सकल खाली कर्‌यो।"

उसके मुँह पर एक अपूर्व तृप्ति, एक प्रशान्त आनन्द का भाव आ गया था। मेरे अन्दर एक बिजली-सी कौंध गयी। इसी तृप्ति, इसी निश्चिन्तता की तो मुझे भी चाह है शायद! सहसा गान रुक गया। वह मुझे अपलक निहार रही थी।

"तेरे पास कुछ नहीं रहेगा—इस भय से जीवन का उत्सर्ग करने में संकोच मत कर। अपना सब कुछ दे देने से तू निर्धन नहीं होगी। देख, मेरी ओर देख"—कहते-कहते उसने मेरे मस्तक को छू दिया जो अब नीचा हो चला था। मैंने कुण्ठित भाव से उसकी ओर दृष्टि उठायी। एक दैवी प्रकाश से वह जगमग-जगमग कर रही थी—"मैं सदा से इस रूप में नहीं थी। तब मैं ठोस थी। मेरे अन्दर मेरा 'मैं'-पन भरा था। तब रह-रह कर अपनी अपूर्णता मुझे खटकती थी, एक अभाव मेरे हृदय को मथता रहता था... फिर मैंने अपना सब कुछ निकाल कर दे डाला, अपना सारा तन-मन खाली कर दिया। कुछ क्षण ऐसा भान हुआ था कि जब मैं 'मैं' ही न रही तो इससे फ़ायदा! पर वह विचार तो पलक मारते विलीन हो गया। और अब... अब तो इस 'मैं' का पृथक् अस्तित्व ही नहीं रहा।" वह सहसा चुप हो गयी।

मैं विमूढ़ भाव में सिर झुकाये बैठी थी। कब वह मेरी गोदी से खिसक पड़ी, मैं जान ही न सकी। एकाएक जैसे मैं चौंक पड़ी—दूर से एक धीमा पर स्पष्ट स्वर आ रहा था—

"मेरो ह्व वह रह्यो नाहीं, श्याम ही सगर्‌यो।
तन मन सकल खाली कर्‌यो।"

अचानक आँख खुल गयी। बिछावन पर प्रभातकालीन धूप अठखेलियाँ कर रही थी। वह गान अब बन्द हो चुका है, पर उसकी ध्वनि मुझे निरन्तर कहती रहती है—"दे डाल, सब कुछ दे डाल। अपना सर्वस्व समर्पण करने पर भी तू निर्धन नहीं होगी।"

'अर्चना' पत्रिका से साभार —स्व.लीलावती

मेरे प्रभो! दे दो मुझे...

प्रार्थना है मेरी, प्रभो!
दे दो मुझे निमिष-मात्र
सूर्य की तेजस्विता और
क्षण-मात्र शशि की शीतलता
चुटकी-भर दे दो हे प्रभो!
धरा की क्षमाशीलता और
अंजुलि-भर दो मुझे
सागर की गम्भीरता
पल दो पल के लिए दो
आकाश की अगाधता
दे दो तनिक-सी
पर्वत की स्थिरता
किञ्चित् दे दो मुझे
फूलों की मृदुता
क्षणिक-सी दे दो
हाथी की प्रगल्भता
इनमें से जो चाहो दो
किन्तु अवश्य दो मुझे
मानव की मानवता
आ जाये जिससे मेरे
रिक्त जीवन में अभिलषित परिपूर्णता।

—आशा भुतडा

'दिव्य शरीर में दिव्य जीवन'

आपके हवाले करता हूँ

तुम सब शिक्षा के क्षेत्र में हो। तुम्हें एक सीधा-सा चुनाव करना है कि तुम पढ़ाने वाले हो या तुम्हारे द्वारा भगवान् पढ़ायेंगे? क्या तुम शिक्षा के क्षेत्र में मानवजाति को कोई नयी चीज़ देने वाले हो या तुम्हारे द्वारा भगवान् वह नयी चीज़ देंगे? अगर ऐसी बात है तो रास्ता बहुत आसान है। तुम्हें लाखों बार जप करने की, सब तरह की कठोर तपस्या करने की ज़रूरत नहीं। विधि बहुत आसान है: अभीप्सा, समर्पण और त्याग। अभीप्सा—भगवान् सब जगह हैं, उनसे प्रार्थना करो, "हे प्रभो! मुझे रास्ता दिखाइये, आप इस शरीर द्वारा मुझे शिक्षा दीजिये, आप विद्यार्थियों द्वारा सुनिये, आप हमारे जीवन द्वारा प्रकट होइये।" और तुम इसका परिणाम देखोगे। अपना मन उनके अर्पित कर दो, अपना शरीर उनके अर्पित कर दो और उनसे कहो, "मैं आपका हूँ, सब कुछ आपके हाथ में है। आप मुझे रास्ता दिखाइये। अगर आपने मुझे राह न दिखायी तो मेरी ज़िम्मेदारी न होगी, और अपनी मानव सीमाओं के कारण मैं भूल कर बैठूँ तो यह मेरा दोष न होगा; वह आपकी ज़िम्मेदारी होगी। मैं भूलें तो करूँगा ही क्योंकि मैं पूर्ण जीवन बिताना नहीं जानता। मैं अपने-आपको आपके हवाले करता हूँ। अब मेरी नहीं, आपकी परीक्षा है। आप मेरे ऊपर अधिकार कर सकते हैं, मेरा रूपान्तर कीजिये, मेरी वाणी द्वारा बोलिये, मेरे द्वारा काम कीजिये।" तब तुम फ़र्क देखोगे।

तुमको पूर्ण समर्पण करना चाहिये। मुझे रवीन्द्रनाथ ठाकुर की एक कहानी याद आती है जिसे मैं संक्षेप में तुमको सुनाता हूँ। यह है तो कहानी पर है बहुत सार्थक। एक आदमी भिक्षाटन के लिए निकला। उसने देखा कि भगवान् सामने से सोने के रथ में चले आ रहे हैं। भगवान् उसकी तरफ़ देख कर मुस्कुराये। उसने मन में सोचा, "यही वेला है जब मुझे अपना भिक्षा-पात्र इनके आगे कर देना चाहिये, मेरी सारी दरिद्रता दूर हो जायेगी।" भगवान् ने उसके आगे अपना रथ रोक दिया और नीचे उतर पड़े। भिखारी उनकी ओर बढ़ा, लेकिन इससे पहले कि वह अपना भिक्षा-पात्र उनके

सामने करे स्वयं भगवान् ने अपना हाथ उसके आगे बढ़ा दिया। आदमी ने सोचा, निश्चय ही भगवान् मेरे साथ मज़ाक कर रहे हैं। वे मुझसे कैसे कुछ माँग सकते हैं! उसने अपने कटोरे से चावल का एक दाना निकाल कर भगवान् के हाथ पर रख दिया और फिर दुःखी और उदास होकर अपनी झोंपड़ी की ओर लौट पड़ा। घर लौट कर उसने अपना कटोरा पलट दिया। उसके दुःख की कोई सीमा न रही जब उसने देखा कि चावल का एक दाना सोने में बदल गया था। वह विलाप करते हुए बोला, "हाय! मैंने अपना सब कुछ भगवान् को क्यों न दे दिया!"

हाँ, तो जीवन का रहस्य यह है कि तुम्हारे पास कोई ऐसी चीज़ न रहे जिसे तुम अपनी कह सको। जिस किसी चीज़ को तुम अपना कहते हो वह धूल होती है और जो कुछ तुम भगवान् को अर्पित कर देते हो वह उनकी आग में शुद्ध होकर सोना बन जाती है। हममें से हर एक को यह निश्चय करना है और एक बार यह निश्चय कर लिया जाये तो भगवान् स्वयं इस महान् देश पर उतर आयेंगे और सब कुछ बदल जायेगा। जब मानव इच्छा भागवत इच्छा के साथ एक हो जाये तो प्राप्तियों की कोई सीमा नहीं रहती। लेकिन अगर मानव इच्छा भागवत इच्छा के साथ एक न हो तो उन मूर्खताओं की सीमा नहीं रहती जो मनुष्य भगवान् के नाम और उनके नाम के बिना करता है।

सबसे अधिक ज़रूरी है अपनी कमियों और कमज़ोरियों के साथ अपनी इच्छा-शक्ति को भगवान् के अर्पण कर देना। अपनी कमज़ोरियों पर नज़र न डालो। उनकी शक्ति तुम्हारी सभी कमज़ोरियों से कहीं अधिक मज़बूत है। उनकी महानता, उनकी सर्वज्ञता, उनकी सर्वशक्तिमत्ता पर नज़र रखो। उनकी करुणा को देखो, और अपने-आपको अर्पण कर दो। हर अध्यापक के लिए यह पहला क़दम है। अध्यापक का अपना जीवन एक नमूना होना चाहिये, एक प्रभाव होना चाहिये। पढ़ाना तो उसका एक छोटा-सा अंश है। अगर तुम यह कर सको तो अपने विद्यार्थियों के साथ ज़्यादा अच्छी तरह सम्पर्क रख सकोगे। तुम्हें पाठ्य-क्रम के बारे में नये विचार आयेंगे और हर चीज़ बदलने लगेगी।

(क्रमशः)

—नवजातजी

शाश्वत ज्योति

(७)

हम आश्रम की वरिष्ठ साधिका चित्रा सेन–हमारी प्रिय चित्रा दी–की डायरी में अंकित श्रीमाँ की बातचीत बीच-बीच में दे रहे हैं। स्वयं चित्रा दी के शब्दों में सुनिये–

'इस वार्तालाप में माताजी की अधिकांश बातें मेरी डायरी से हैं। हम उनके साथ जो भी बातचीत करते थे, उन्हें यथासम्भव ईमानदारी से लिख लेते थे। यह वार्तालाप माँ के द्वारा न तो देखा गया है और न ही सुधारा।'

माँ हमारी पूरी तरह से देखभाल करती थीं। जब भी हमें कोई शारीरिक तकलीफ़ होती, हम उनके पास जाते, हमेशा 'उनकी' और 'उनकी' शक्ति की ओर खुलने की कोशिश करते। वैसे, हमारे यहाँ एक बढ़िया औषधालय है, लेकिन हममें से किसी से भी पूछ देखो, हम कभी औषधालय नहीं गये। वे ही हमारी चिकित्सक थीं। हमारी स्वास्थ्य-परीक्षा हुआ करती थी। माँ छोटे बच्चों और लड़कियों के दल के साथ मौजूद रहती थीं। वे वहीं बैठती थीं। और चिकित्सक शरीर के बारे में जो कुछ कहता था उसकी अच्छी तरह जाँच करती थीं। वे बहुत ही बारीक़ी से देखती थीं और उन्होंने उन बच्चों को अण्डे खाने की सलाह दी जिन्हें वे कमज़ोर समझती थीं। मैं उनमें से एक थी क्योंकि मैं समय से पहले पैदा हुई थी। तो उन्होंने मेरी माँ से कहा कि मुझे रोज़ एक अण्डा खाना चाहिये। लेकिन मैं नहीं लेती थी। आश्रम में कोई अण्डा नहीं लेता था, तो मैं क्यों लूँ? निश्चय ही मैं एक महान् साधिका बन गयी! तो मेरे माता-पिता को मुझे अण्डा खाने के लिए मनाना पड़ा। फिर वे मुझे और कई ऐसों को विशेष 'चीज़' (cheese) 'स्विस चीज़' दिया करती थीं जिन्हें वे शारीरिक रूप से कमज़ोर समझती थीं। जब आश्रम में बच्चे आये, उन्होंने अण्डे, मक्खन तथा फल सभी को देना शुरू कर दिया।

वे हमसे बार-बार कहती थीं, "तुम जो खाते हो वह महत्त्वपूर्ण है। लेकिन कैसे खाते हो वह ज़्यादा महत्त्वपूर्ण है।" बच्चों से उन्होंने कहा, "जब तुम अपने भोजन के लिए बैठो तो शान्ति को पुकारो। शान्ति को वैसे ही बुलाओ जैसे तुम अपने किसी दोस्त को पुकार कर बुलाते हो।

केवल 'शान्ति, शान्ति और शान्ति' कहते रहो। पुकारो, और वह अपना काम करेगी। यह तुम्हारे शरीर की हर उस चीज़ को पचाने में तुम्हारी मदद करेगी जिसकी तुम्हारे शरीर को ज़रूरत हो। यह ऐसा निश्चय ही करेगी।"

जैसा कि मैंने पहले भी कहा था, मुझे साँस की तकलीफ़ थी, कुछ कम्पन भी था। जब मैंने माँ से जाकर यह कहा तो वे बोलीं: "बेचैनी का मतलब हमेशा किसी तरह का मानसिक, प्राणिक या शारीरिक प्रतिरोध ही होता है। वह चाहे एक, दो या तीनों का संयोजन हो। बेचैनी की ओर ध्यान देने की बजाय तुम्हें आराम करना चाहिये। सभी विचारों को, मांसपेशियों को, सब कुछ को शिथिल छोड़ दो और फिर कहो, 'यह रही मैं'। तुम कभी प्रार्थना करती हो?" मैंने कहा, "जी हाँ, माँ। हम और कर ही क्या सकते हैं?" "हाँ," उन्होंने जवाब में कहा, "इसमें मैं तुम्हारे साथ हूँ—व्यक्ति बस यही एक चीज़ कर सकता है।" फिर उन्होंने जोड़ा, "जब मुझे बेचैनी (अर्थात्, शारीरिक बेचैनी) होती है तो मैं भी यही करती हूँ। मैं बुलाती हूँ, मैं आह्वान करती हूँ।" निस्सन्देह, यह वह प्रार्थना नहीं है जो हम करते हैं!

मेरी साँस की तकलीफ़ के बारे में उन्होंने कहा, यह स्नायु-तन्त्र में कुछ कमी है। फिर उन्होंने मुझे बताया और पहली बार मुझे इसके बारे में पता चला—"भौतिक शरीर के सभी हिस्सों में, स्नायुएँ सबसे अधिक इच्छा के नियन्त्रण में होती हैं। इच्छा से मेरा मतलब है सक्रिय अभीप्सा से।" फिर उन्होंने कहा, "यदि तुम ऐसा नहीं कर सकतीं तो प्रार्थना करो।"

फिर उन्होंने मुझे यह प्रार्थना दी, जिसे मैं तुम सबके साथ बाँटना चाहूँगी। प्रार्थना फ़्रेंच में थी:

"हे प्रभो, मेरे अन्दर से सभी डर और कमज़ोरियों को दूर कर दो।"

फिर उन्होंने मुझे यह रोज़ रात को सोते समय दोहराने के लिए कहा।

(क्रमशः) अनु. वीणा

यदि तुम्हारी पुकार या अभीप्सा में ऐसा भय है कि वह सुनी नहीं जायेगी और भागवत प्रत्युत्तर के बारे में सन्देह है, तो हमेशा ताक में रहने वाली विरोधी शक्तियाँ इन भयों और सन्देहों के द्वारा तुम्हारी चेतना में प्रवेश कर जायेंगी और अनिष्ट करेंगी। अतः, तुम्हें सच्ची एवं निष्कपट श्रद्धा के साथ पुकारना चाहिये। श्रीमाँ

"आप इतनी ख़ुश क्यों हैं?"

मैं वह दिन कभी नहीं भूल पाऊँगा जब हेलेन केलर हमारी कक्षा में आयी थीं। तब मैं छठी में पढ़ता था। वे उस समय पैंसठ-सत्तर के बीच की होंगी। मुझे याद है, लम्बी-चौड़ी महिला जिनसे किरणें फूट रही थीं। उनकी आँखें कुछ न देखते हुए भी सब कुछ देख रही थीं। संसार का स्वागत करती हुई उनकी वह मुस्कान चारों तरफ़ कितनी कृपा और भलाई बिखेर रही थी! मैंने अपने जीवन में ऐसे किसी को कभी नहीं देखा... उनकी उपस्थिति हर्ष और उल्लास से कितनी भरपूर थी।

जब उन्होंने बोलना शुरू किया, (उनकी वाणी बहुत अस्पष्ट ज़रूर थी) मुझे पैग़म्बर की वाणी सुनायी दी—स्वर के उनके वे उतार-चढ़ाव और वे उच्चारण क्या किसी ऐसे के थे जिसने वाणी कभी सुनी ही नहीं! जब वे थमीं तो मैंने अनुभव किया कि वे मेरे अन्दर गहराई में उतर गयीं, और मैं जानता था कि मुझे जाकर उनसे बातें करनी ही होंगी। मुझे मालूम नहीं मैं क्या कहना चाहता था, लेकिन इतना जानता था कि मुझे उनसे बातें करनी ज़रूर हैं। जब उनके साथी ने घोषणा की, "तुम बच्चों में से किसी के पास कोई प्रश्न है क्या?" तो मेरे साथी झेंप से गये, बग़लें झाँकने लगे, लेकिन मेरा हाथ अपने-आप उठ गया, और मेरे पैर स्वतः उनकी ओर बढ़ने लगे।

मिस केलर ने मेरा प्रश्न पढ़ने के लिए अपना पूरा हाथ मेरे चेहरे पर रख दिया। उनकी उँगलियों ने मेरे चेहरे के हाव-भाव पढ़े, जब कि हथेली का बीच का हिस्सा मेरा प्रश्न पढ़ने के लिए मेरे होठों पर टिक गया। तब तक मुझे मालूम नहीं था कि मैं क्या पूछने वाला हूँ। उनका हाथ मेरे चेहरे से हटा नहीं।

आख़िर मेरे हृदय में जो था वह प्रश्न के रूप में फूट पड़ा: "आप इतनी ख़ुश क्यों हैं?"

उनकी हँसी फूट पड़ी, ठहाकों में गूँज उठी—वे ठहाके किसी दूसरे ही लोक के लग रहे थे—घने वन में सरसराती हवा के साथ वृक्षों की हँसी-भरी खनक और जो गूँज प्रतिध्वनित होती है न, वैसी थी उनकी वह हँसी।

"मेरे बच्चे", वे बोलीं, (वास्तव में हेलेन बातें नहीं कर सकती थीं,

लेकिन अथक प्रयास के बाद टूटे-फूटे स्वरों के साथ काम चला लेती थीं।) स्वरों के उतार-चढ़ाव के बीच उनके हृदय का यह अपूर्व सत्य मेरे अन्तरतम में जा बसा—"मैं इसलिए हमेशा, हमेशा ख़ुश रहती हूँ क्योंकि मैं हर रोज़ इस तरह बिताती हूँ मानों वह मेरी ज़िन्दगी का आख़िरी दिन हो। और तब ज़िन्दगी अपने हर क्षण में, कण-कण में कितनी भव्य, कितनी सुन्दर दीखने लगती है। यही है मेरी पल-पल की ख़ुशी का रहस्य!"

मैं उन्हें एकटक निहारता रहा—क्या ये ही वे महिला हैं जो सब कहते हैं कि न देख सकती हैं, न सुन सकती हैं और न ही **सचमुच** बोल सकती हैं...!

मैं तब बच्चा था, लेकिन शिशु नहीं, और उस उम्र में भी मैं कई घण्टों तक इसी बात पर ताज्जुब करता रहा कि पता नहीं इनके लिए लोग ऐसा क्यों कहते हैं? मुझे तो लगा कि ये पल, दो पल में मुझे सारी ज़िन्दगी की सच्चाई दिखा गयीं, सुना गयीं, और बख़ूबी बता गयीं।

(पुनर्कथन—वन्दना) —ज़ाँ हूस्टन

लगता है...

लगता है
मेरे अन्दर दो मन हैं
अलग-अलग दिशाओं में
दौड़ाते हैं मुझे
एक ही समय
बैठता हूँ शान्त
एकान्त उपासना में
कोई खींचने लगता है
सांसारिक वासना में
इस निरन्तर खींचतान में
कैसे रह पाऊँगा स्थिर
कैसे उतर पाऊँगा पार
जब हूँ दो नावों में सवार। —श्री विश्वनाथ

जंगल

एक था जंगल। इतना घना कि दिन में भी अँधेरा रहता था। एक दिन दो शिकारी इस जंगल में आये। बेचारे सुबह से शाम तक दौड़-भाग करते रहे, किन्तु एक भी शिकार हाथ न आया। थक कर चूर दोनों जंगल के बीच एक वटवृक्ष के नीचे सुस्ताने बैठ गये। दोनों एक-दूसरे से कह रहे थे, "बाप रे बाप, कैसा भयंकर जंगल है, कितना ख़ौफ़नाक है!" थोड़ी देर के बाद शिकारी चले गये। वटवृक्ष जो उनकी बातें ध्यान से सुन रहा था सोचने लगा, जंगल! क्या होता होगा यह जंगल? निश्चय ही कोई प्राणी है, बड़ा डरावना होगा! सोच-विचार के बाद उसने पास ही खड़े बाँस के झुण्ड से पूछा, "भइया बाँस, तुमने जंगल देखा है?" बाँस ने कहा, "जंगल, वह क्या होता है?" बरगद ने सोचते हुए कहा, "कोई खूँखार प्राणी होगा। अभी दोपाये आये थे न, वे उसकी बात कर रहे थे। बहुत ही डर रहे थे जंगल से। तुम तो बड़े लम्बे हो, ज़रा देखो न।" बाँस ने अपनी फुनगी उठा-उठा चारों तरफ़ नज़र डाली, फिर बोला, "नहीं, मुझे कोई नया प्राणी नहीं दीख रहा। हम शेर से पूछेंगे क्योंकि वह भी तो बड़ा ख़तरनाक जानवर है। अब दोनों शेर की प्रतीक्षा करने लगे। कुछ देर बाद झरने का पानी पीने के लिए शेर आ निकला। दोनों ने चिल्ला कर पूछा, "शेर भइया रुको, तुमने जंगल देखा है?" शेर गुर्रा कर बोला, "वह कौन है?" बाँस बोला, "वह बड़ा ही ख़तरनाक जानवर है! दोपाया भी उससे डरता है।" शेर गरजा, "अगर वह इधर आये तो मुझे बुला लेना, मैं उसका भुरता बना दूँगा।" यह कह कर गुर्राता हुआ शेर चला गया। दोपहर को एक चील बरगद की शाखा पर आ बैठी। बरगद ने कहा, "चील बहन, तुम तो सब जगह घूम-फिर कर आती हो, आज हमने एक नये जानवर का नाम सुना, उसे जंगल कहते हैं, तुमने कहीं देखा है?" चील ने सीटी बजायी, फिर बोली, "जंगल नाम का प्राणी तो नहीं देखा मैंने, अगर दिखायी दिया तो यहाँ आकर ज़रूर बताऊँगी।" वह अपने पर खोल कर आकाश में यह जा, वह जा। अब बाँस और बरगद सोचने लगे, "शेर को नहीं मालूम, चील को

नहीं मालूम, क्या पता यह प्राणी पाताल में रहता हो। हमें साँप से पूछना चाहिये।" रात होते ही साँप बाहर घूमने निकला। बरगद और बाँस को नींद कहाँ? साँप को देखते ही बोल उठे, "साँप भइया, तुम तो ज़मीन के नीचे रहते हो, तुमने जंगल नाम का प्राणी देखा है?" साँप ने कुण्डली मार कर सोचा, फिर बोला, "नहीं, मैंने नहीं देखा, हमारे पड़ोस में चीटी, मकौड़े, कई कीड़े और कभी-कभी बिच्छू होते हैं, लेकिन जंगल को नहीं देखा।"

दूसरे दिन सुबह एक नयी गौरैया आयी, नाच-नाच कर, चहक-चहक कर वह अपनी ख़ुशी दिखा रही थी। कहने लगी, "हाश! छूटे उस शहर से, आदमी साँस लेने नहीं देते थे। इधर से भगाते थे, उधर से भगाते थे। हमारे लिए कहीं घोंसला बनाते भी नहीं थे और बनाने देते भी नहीं थे। अब यह जंगल अच्छा है।" हाँ, जंगल का नाम सुनते ही बरगद और बाँस चौकन्ने हो गये, पूछा, "जंगल! वह क्या होता है?" चिड़िया चहकी और बोली, "अरे, तुम सभी तो जंगल हो, देखो न, कितने सारे पेड़ एक साथ रहते हैं, कितनी बेलें हैं, कितने पशु-पक्षी हैं, तुमसे तो आदमी भी डरता है!" यह सुनते ही बरगद और बाँस ने और जंगल के सारे पेड़ के पत्तों ने अपनी डालियाँ हिला-हिला कर शोर मचाया, "हम जंगल हैं! हम जंगल हैं!" शेर ने सुना, तो ज़ोर से गरजा, "मैं जंगल हूँ।" सारे वृक्ष, पशु-पक्षी अपनी शक्ति से सचेतन होकर एक ही हुंकार में बोल उठे, "जंगल! भयंकर जंगल!"

'पुरोधा', जनवरी २००८ से —स्व. अनुबेन

चित्ते प्रसन्ने भुवनं प्रसन्नम्
चित्ते विषण्णे भुवनं विषण्णम्।
अतः अभिलाषी यदि त्वं सुखस्य
चित्तप्रसादे तर्हि प्रथमं यतस्व।।

मन प्रसन्न हो तो सम्पूर्ण जगत् प्रसन्न दिखायी देता है। मन खिन्न हो तो जग भी खिन्न प्रतीत होता है। इसीलिए, सुख की अभिलाषा हो तो सबसे पहले मन प्रसन्न रखने का प्रयत्न करो।

"सारा हिसाब चुकता"

यह छोटी-सी कहानी एक ऐसे ग़रीब बच्चे की है जो बचपन से ही होनहार था। माता-पिता की आँख का तारा। हॉवर्ड केली ने ज़िन्दगी की हर चुनौती को स्वीकारा। वह बचपन से ही कहा करता था, "अगर भगवान् ने हमारे पैरों के नीचे ग़रीबी का काँटों-भरा ग़लीचा बिछाया है तो उसका भी गहरा अर्थ होगा। मैं अपना रास्ता बुहारता चलूँगा...।" माता-पिता को नाज़ था अपनी सन्तान पर। उन्होंने भी शायद कभी ईश्वर से यह नहीं कहा होगा कि प्रभो! तूने हमें ग़रीब क्यों बनाया? शायद यही कहा हो कि हे ईश्वर, ग़रीब ग़रीबी को अभिशाप न माने तो वह तेरा वरदान बन जाती है। ऐसा ही हुआ हॉवर्ड केली की ज़िन्दगी में भी। पढ़ने का शौक तो उसकी नस-नस में भरा था। मुँह-अँधेरे ही विद्यालय के लिए निकल पड़ता। रोज़ अलग-अलग मार्गों से होता हुआ विद्यालय पहुँचता क्योंकि रास्ते में घर-घर रुक कर वह छोटा-मोटा सामान भी बेच दिया करता था, माँ सिलाई-बुनाई का काम कर कुछ पैसा जमा करतीं और पिता भी मज़दूरी करते थे; लेकिन केली की पढ़ाई का ख़र्च इतना था कि प्रायः सारा पैसा उसी में चला जाता था और कभी-कभी खाने के भी लाले पड़ जाते थे—इतना सब होते हुए भी उस ग़रीब घर में किसी भी अमीर घर से कहीं ज़्यादा सन्तोष और ख़ुशियाँ फेरी लगाते थे। शिकायत करना तो उस बालक ने कभी सीखा न था और मेहनत करना उसकी घुट्टी में पड़ा था। उस दिन भी रोज़ की तरह वह बड़े सवेरे-सवेरे ज़रा-सा चना-चबेना मुँह में डाल कर घर से निकल पड़ा। दुर्भाग्य से उस रोज़ उसका एक भी सामान नहीं बिका। एक पैसा तक हाथ में न आया तो बेचारा क्या ख़रीदता और क्या खाता भला? भूख के मारे केली की आँखों के आगे अँधेरा छाने लगा। पहली बार... पहली बार उसके मुँह से आह निकली, ऊपर आसमान की ओर ताक कर वह बोल उठा, "हे मेरे प्रभो!" और तभी उसके मन में एक विचार कौंधा, "मैं आज इस सामने वाले घर का दरवाज़ा खटखटा कर कुछ खाना माँगूँगा। आज भूख नहीं सही जा रही मुझसे।" दरवाज़े पर दस्तक देकर वह वह मन-ही-मन अपना वाक्य बना रहा था कि सामने खड़ी उस अप्सरा-जैसी सुन्दर किशोरी को देख उसके मन का वाक्य मन

में ही उलझ गया और खाना माँगने की जगह बस केली के मुँह से यह वाक्य फूटा—"कृपया, थोड़ा पीने का पानी मिल सकता है यहाँ?"

"ज़रूर, ज़रूर। आओ, अन्दर आकर सोफ़े पर बैठ जाओ," कह वह अन्दर चली गयी। वापस लौटी तो उसके हाथ में दूध से भरा बड़ा गिलास था। बोली—"यह पी लो भाई, तुम बहुत थके हुए दीख रहे हो। हॉवर्ड की कृतज्ञता-भरी दृष्टि ऊपर आकाश की ओर उठी फिर ज़मीन पर उस फ़रिश्ते पर टिक गयी। धीरे-धीरे, एक-एक घूँट मानों अमृत उसके गले से उतरने लगा, उसकी एक-एक बूँद उसे ताज़गी, आनन्द और बल से भरने लगी। किशोरी भी उसकी आँखों की तृप्ति से गद्‌गद हो उठी।

दूध पीकर, हॉवर्ड ने हाथ जोड़ बड़ी ही नम्रता से कहा—"बहन, अभी मेरे पास बिलकुल पैसे नहीं हैं, कल सवेरे ज़रूर तुम्हें इसका मूल्य चुका दूँगा।"

किशोरी हँस पड़ी, बोली—"बचपन से ही माँ ने सिखाया है कि प्रेम और करुणा से किये गये काम के कभी पैसे नहीं लिये जाते। प्यासे की प्यास बुझाना, भूखे को भोजन देना मानवता की निशानी है।"

"तब मैं तुम्हें अपने हृदय की गहनतम कृतज्ञता के साथ धन्यवाद देता हूँ बहन। आज तुमने मेरे ऊपर बहुत बड़ा उपकार किया। जनम-भर याद रखूँगा दूध के इस गिलास को।" कह कर एक बार फिर अभिवादन में झुक, हॉवर्ड उस फ़रिश्ते को एकटक निहारता हुआ बाहर निकल आया।

उस घर से निकल कर हॉवर्ड न केवल शारीरिक रूप से तरोताज़ा हो उठा बल्कि भगवान् और मनुष्य के प्रति उसकी आस्था और भी अडिग हो गयी।

ज़िन्दगी समय के पंखों पर बैठ कर आगे-ही-आगे की ओर उड़ती चली गयी। लोग कहाँ-से-कहाँ पहुँच गये! अब न हॉवर्ड केली बच्चा रहा, न वह किशोरी बालिका। लेकिन युवती होते-न-होते वह गम्भीर रूप से बीमार पड़ गयी। बीमारी थी विरल। जब उस प्रदेश के चिकित्सक कुछ न कर पाये तो उन्होंने उस युवती को बड़े शहर में विशेषज्ञों की देख-रेख में भेज दिया। सबसे बड़े चिकित्सक हॉवर्ड केली को वहाँ बुलाया गया। अपने शहर और उस इलाक़े का नाम सुन कर हॉवर्ड की आँखों में एक विशेष चमक कौंध गयी। वे तुरन्त अगले ही हवाई जहाज़ से वहाँ पहुँच

गये और सीधा अस्पताल गये। उस युवती के कमरे में प्रवेश करते समय उनके दिल की धड़कनें तेज़ होने लगीं। उसका चेहरा देखते ही डॉक्टर ने तुरन्त उसे पहचान लिया। इतने वर्षों के बाद भी उस अप्सरा-जैसे रूप में कोई फ़र्क न आया था—हूबहू वही चेहरा। उसकी आँखें मुँदी हुई थीं और वह निश्चेष्ट-सी बिस्तर पर लेटी हुई थी। डॉक्टर की अन्तरात्मा बोल उठी—"केली, इसे तुम्हें बचाना ही होगा।"

डॉक्टर तुरन्त अपने कमरे में गये। कुछ देर चुपचाप रोते रहे। आँखें आकाश की ओर उठीं और वे बुदबुदा उठे—"प्रभो, मेरे साथ रहना।"

उस रोज़ से डॉ.केली अपने और कामों को तिलाञ्जलि दे, पूरी तरह से अपने मरीज़ के रोग के निदान में जुट गये। परीक्षण, ऑपरेशन, दवाइयाँ और सबसे बढ़ कर 'उसकी' सहायता से मरीज़ का स्वास्थ्य सुधरने लगा। चिकित्सा-जगत् हॉवर्ड केली के गुणगान गाने लगा।

पूरी तरह से स्वस्थ हो, उस युवती के अस्पताल छोड़ने का जब समय आया तो डॉ.केली ने विशेष हिदायत दी कि उस युवती का अस्पताल का बिल वह स्वयं देख कर पास करेंगे।

बिल उनके पास आया। डॉक्टर ने उसके एक कोने में कुछ लिखा और वे ख़ुद उठ कर युवती के कमरे में गये। अभिवादन और कुशल-क्षेम के बाद वे बोले, "मैं आपका बिल साथ लाया हूँ। आज आप हमारे अस्पताल से पूरी तरह स्वस्थ और तरोताज़ा होकर जा रही हैं। आपका स्वास्थ्य बरक़रार रहेगा यह हमारे यहाँ के चिकित्सक-दल की न केवल आशा है बल्कि हम सबका यह पूर्ण विश्वास है..."

लेकिन उस युवती के दिलोदिमाग़ पर शायद डॉक्टर की बातें उतर ही नहीं रही थीं। उसकी नज़रें तो डॉक्टर के हाथ में थमे बिल पर टिकी थीं और दिमाग़ इस उधेड़-बुन में लगा था, "न जाने कितने हज़ार का बिल होगा? क्या मेरी आज तक की सारी बचत इसी में समा जायेगी? और ऊपर से और कुछ लगा तो? कहाँ से लाऊँगी मैं इतना सारा पैसा?"

"यह लीजिये आपका बिल मैम" कह हॉवर्ड ने अपना हाथ आगे बढ़ा दिया।

युवती ने दम साधे बिल देखा। पैसा देख कर उसकी आँखें चुँधिया गयीं और तभी उसकी नज़र बिल के उस कोने पर पड़ी जहाँ सुन्दर, स्पष्ट,

सुर्ख़ अक्षरों में लिखा था—"बहन, एक गिलास दूध के साथ तुम्हारा सारा हिसाब चुकता।"

युवती सकते में आ गयी। उसकी आँखें हॉवर्ड के चेहरे पर जड़ गयीं। "क्या तुम... आप..." डॉक्टर हलके से सिर हिला कर मुस्कुरा उठे।

दोनों के हाथ स्वतः ही एक दूसरे के लिए प्रणाम की मुद्रा में बँध गये। और अगले ही पल भाई-बहन आलिंगनबद्ध थे।

ऊपर बैठे प्रभु अपनी सफलता पर मन-ही-मन मुस्कुरा रहे थे।

'पुरोधा', मई २००५ से —वन्दना

दीप से जलना न सीखो, दीप से मुस्कान सीखो,
सूर्य से ढलना न सीखो, सूर्य से उत्थान सीखो।
सोचना है हम स्वयं इस चित्र में अंकित कहाँ हैं?
राह चलना ही न सीखो, राह का निर्माण सीखो।

—कल्याण कुमार जैन, 'शशि'

अग्निशिखा
श्रीअरविन्द सोसायटी की मासिक पत्रिका
वार्षिक शुल्क : एक वर्ष—२००रु.; तीन वर्ष—५८०रु.; पाँच वर्ष—९६०रु.
संस्थापक : श्रीअरविन्द सोसायटी
मुद्रक : स्वाधीन चैटर्जी, श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस
प्रकाशक : प्रदीप नारंग, श्रीअरविन्द सोसायटी
प्रकाशक स्थल : सोसायटी हाउस, ११ सैं मार्तैं स्ट्रीट, पॉण्डिचेरी ६०५००१
मुद्रण-स्थल : श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस, नं. ३८, गूबैर ऐवेन्यू,
पॉण्डिचेरी ६०५००१, भारत
सम्पादक : वन्दना
स्वामी : श्रीअरविन्द सोसायटी, पॉण्डिचेरी-६०५००१
दूरभाष संख्याएँ (०४१३) २३३६३९६-९७-९८
Email: info@aurosociety.org
Website: www. aurosociety.org

SRI AUROBINDO SOCIETY
Notice for the Annual General Meeting

The Annual General Meeting of the members of Sri Aurobindo Society will be held on Saturday, the 21st September 2024, at 4.00 p.m. at its registered office, Sri Aurobindo Bhavan, 8, Shakespeare Sarani, Kolkata – 700 071, to transact the following business:

1. To confirm the minutes of the last Annual General Meeting held on 23rd September 2023.
2. To consider and approve the audited Balance Sheet and Income & Expenditure Account of the Society for the year ended 31.03.2024.
3. To consider and adopt the Executive Committee's Annual Report of Activities for the year 2023–2024.
4. Confirm Formation of Executive Committee.
5. To appoint an auditor for the Society for the year 2024-2025.
6. To consider any other matter with the permission of the chair.

Sd/-

04.07.2024 (Pradeep Narang)
Puducherry Chairman

Note: The members are entitled to appoint proxy. Proxies must be deposited at the Registered Office of the Society, No. 8, Shakespeare Sarani, Kolkata – 700 071, during office hours, in advance but not less than 48 hours before the time of the meeting. The proxy should be a member of the Society. Proxy form is printed below.

✂ ..... ✂ ..... ✂ ..... ✂

PROXY

SRI AUROBINDO SOCIETY,
Regd. Office: 8, Shakespeare Sarani, Kolkata – 700 071.

I, ……. being a member of Sri Aurobindo Society, having membership No. …….. valid upto ……... do hereby appoint …… having Society's membership No. …… valid upto …… as my proxy in my absence to attend and vote for me and on my behalf at the Annual General Meeting of the Society, to be held on Saturday, the 21st September 2024, at 4.00 p.m. and at any adjournment thereof.

In witness whereof, I have set my hand this
…….... day of .....……. 2024.

Revenue Stamp

(Signature of the member across the stamp)

SRI AUROBINDO

A New Dawn

A HAND-PAINTED ANIMATION FILM BY SRI AUROBINDO SOCIETY

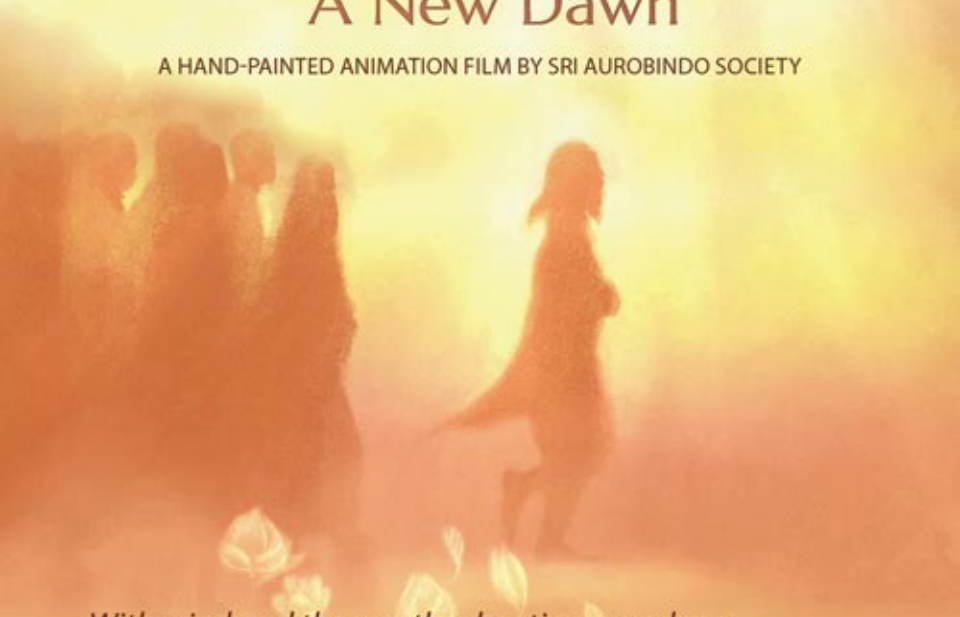

With wind and the weather beating round me
Up to the hill and the moorland I go.
Who will come with me? Who will climb with me?
Wade through the brook and tramp through the snow?

~Sri Aurobindo

WINNER
Best Animation Film
Spring Time International Film Festival
2023

WINNER
Best Animation Film
Asifa India Awards of Excellence
2023

WINNER
Special Jury Mention
16th Jaipur International Film Festival
2024

WINNER
BANGKOK "SOCIETY OF FILM CRITICS" AWARD
Bangkok Movies Awards
2024

Watch the 28-minute film in English, Tamil, Telugu & Hindi
at **www.anewdawn.in**

Date of Publication: 1st September 2024
Rs. 30 (Monthly)
अग्निशिखा एवम् पुरोधा, वर्ष २, अंक १४, PONHIN/2023/88119
प्रकाशक स्थलः सोसायटी हाउस, ११ सैं मार्तं स्ट्रीट, पांडिचेरी ६०५००१

Renaissance

AN ONLINE JOURNAL OF SRI AUROBINDO SOCIETY

renaissance.aurosociety.org

PRESENTED BY BHĀRATSHAKTI

India must be reborn, because her rebirth is demanded by the future of the world.

Featuring curated pearls of wisdom from the oceanic writings of **Sri Aurobindo and the Mother**, as well as fresh perspectives and insights on India and her creative genius manifesting in various domains – spiritual, artistic, literary, philosophic, aesthetic.

Sri Aurobindo Society

BHĀRATSHAKTI

INDIA – FROM PAST DAWNS TO FUTURE NOONS

10 ISSUES PER YEAR

Released on the 21st of every month (special issue on August 15)

SUBSCRIBE FOR FREE